एक हज़ार वर्ष बाद

लेखक
काका गाडगील

प्रकाशक
रणजीत प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
चाँदनी चौक, देहली।

{ मूल्य ३)

१६५१ }

बालकृष्ण एम० ए० द्वारा युगान्तर प्रेस, डफरिन पुल, देहली में मुद्रित ।

काका गाडगील

माननीय पंडित नरहर विष्णु गाडगील को हम लोग 'काका' कहते हैं। हमारे देश में अभी तक दो 'काका' हुए हैं। एक हैं कालेलकर जी और दूसरे हैं गाडगील महाशय। कालेलकर कदाचित् बड़े काका हैं, क्योंकि स्वयं पुण्य-श्लोक बापू उन्हें 'काका' कहा करते थे। गाडगील, समझ लीजिये, छोटे 'काका' हैं। पर हैं वे सर्व-स्वीकृत 'काका'। जहाँ तक मेरा अनुमान है, लौह पुरुष सरदार भी उन्हें 'काका' कहकर ही सम्बोधित करते हैं। गत तीन-चार वर्षों से मुझे काका को निकट से देखने का अवसर मिला है। उनका व्यक्तित्व सरल, आडम्बर-शून्य, अनहंकार-मय, कर्मठ, भावयुक्त एवं सहज है। वे बहुश्रुत एवं बहुपठित जन हैं। भारतीय राजनीति में उनका स्थान ऊँचा है। वे परम देशभक्त हैं। देश के स्वातन्त्र्य-युद्ध में उन्होंने बहुत बड़ा भाग लिया है। वे तपे हुए, अनुभवी, कष्ट सहिष्णु सेनानी हैं। वर्षों तक महाराष्ट्र प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति रहकर उन्होंने अपनी कर्म-कुशलता का परिचय दिया है। गत पन्द्रह-सोलह वर्षों से भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य के रूप में वे अपने गहन संसदीय ज्ञान का परिचय देते रहे हैं।

जब से दिल्ली आया हूँ—प्रायः भाड़ झोंकने के लिए—तब से मुझे काका को सब ओर से देख सकने की सुविधा मिली। मैंने देखा कि काका न केवल राजनैतिक प्राणी ही हैं, वरन् वे एक अच्छे साहित्यकार भी हैं। वे विचारक हैं। वे सुलेखक हैं। वे शैलीयुक्त हैं। मुझे इधर काका के कुछ निबन्धों को पढ़ने का अवसर मिला है। मराठी भाषा में उनकी गणना उच्च कोटि के लेखकों में होती है। उनकी लेखनशैली

अत्यन्त परिपक्व, परिपुष्ट, मौलिक, पुरातन संदर्भयुक्त एवं मर्म-स्पर्शिनी है।

इधर, इस पुस्तिका के रूप में, उनके ये कुछ निबन्ध हिन्दी पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जा रहे हैं। मुझे इन निबन्धों में से एक निबन्ध के कथानक को स्वयं काका के मुख से, कथा के रूप में, सुनने का अवसर मिला है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन हो रहा था। एक दिन मध्याह्न-अवकाश के समय मैं और काका दोनों भोजनगृह में जा बैठे और काका कहने लगे—"वह कथानक जो इस पुस्तिका में "ग्यानू मरा नहीं......" शीर्षक से लिपिबद्ध किया गया है।" मैं तन्मय होकर सुन रहा था। काका अपनी पवित्र, प्रवाह-युक्त, सुष्ठु मराठी में कहानी सुना रहे थे। और जब उन्होंने ग्यानू के पिता रामजी बुवा के ये शब्द कहे कि "ग्यानू मरा नहीं है, वह बच्चा बन गया है।" तो मैं बच्चों के सदृश रो पड़ा और बोला, "काका, आज तुमने यह कथा सुनाकर मुझे कृतार्थ कर दिया।" मैं पाठकों से कहूँगा कि वे काका साहब के इन निबन्धों को पढ़ें और ध्यानपूर्वक पढ़ें। वे इन्हें पढ़कर कृतार्थ हो जायेंगे। उन्हें यह अनुभव होगा कि इन निबन्धों में न केवल उच्च कोटि का साहित्य ही है, वरन् वे यह भी देख सकेंगे कि इन निबन्धों के लेखक तपस्तप्त, गहन अनुभूतिशील, कुशल, सामर्थ्यवान् एवं लोकसंग्रही साहित्य-रथी हैं। एक-एक वाक्य में गंभीर तत्त्वज्ञान को भर देने का उनमें अद्भुत् सामर्थ्य है। काका अपनी लेखनी के धनी हैं। उनकी इस पुस्तिका ने निःसन्देह हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि की है। हिन्दी के निबन्ध साहित्य में यह पुस्तक अग्रगण्य होगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं काका के प्रति हिन्दी भाषा-भाषियों की ओर से, इस निबन्धावली को हिन्दी में रूपान्तरित करने के लिये, हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश करता हूँ। इन पंक्तियों को पढ़कर कोई भी पाठक यह न समझ लें कि मैं काका के प्रति जो ये शब्द कह रहा हूं वह उनके प्रति पक्षपात से वशीभूत होकर

कह रहा हूं। बन्धुवर डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट. को समग्र हिन्दी जगत् अन्यतम निबन्ध-लेखक के रूप में स्वीकार करता है। उन वासुदेव जी ने स्वयं मुझसे काका के 'एक हज़ार वर्ष बाद' वाले निबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और कहा था कि ऐसी उच्च कोटि का साहित्यिक-निबन्ध उन्हें अन्यत्र पढ़ने को नहीं मिला। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी संसार इन निबन्धों का समुचित आदर करेगा और इन्हें पढ़कर सत्साहित्यानन्द का अनुभव करेगा।

५, विंड्सर प्लेस, नई दिल्ली
१३ नवम्बर, १९५०

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

परिचय

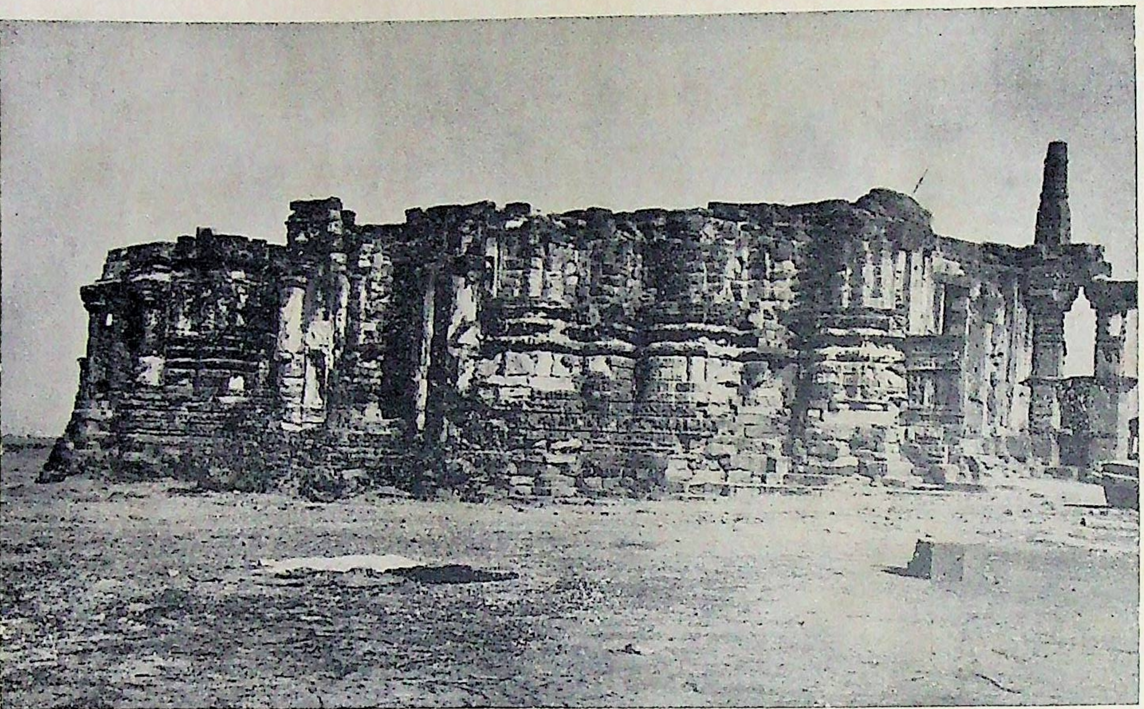
१९४४ के अगस्त मास में यरवदा जेल से मेरी रिहाई हुई। यरवदा जेल में मैंने कुछ राजनैतिक सिद्धान्तों पर ग्रन्थों का लेखन किया। रिहाई के बाद कांग्रेस का काम करता रहा और जब अवसर मिलता था तब कुछ-न-कुछ घटनाओं को, जिनका अनुभव मैंने किया था, शब्दरूप में लाकर प्रकाशित किया। यह निबन्ध या लेख मैंने मराठी में लिखे थे और उनका संकलन 'साल गुदस्त' इस नाम से १९४६ में प्रकाशित हुआ। मेरे कई मित्रों के कहने पर इन निबन्धों का हिन्दी में अनुवाद करने का निश्चय किया और श्री रत्नपारखी विद्यालंकार की मदद से मैंने बहुत सारे निबन्धों का अनुवाद किया। यह सब लेख दिल्ली के हिन्दी 'हिन्दुस्तान' में पिछले दो वर्षों में छप चुके हैं। इन सब लेखों का संकलन करके यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। हिन्दी भाषा अब भारत की राजभाषा हो गयी है। अब तो सब भारतवासियों का यह कर्तव्य है कि इस राज-भाषा को प्रासादिक, अर्थवाही और विशाल बनावें। जो शैली इस ग्रन्थ में है वह हो सकता है कि कुछ हिन्दी साहित्यिकों को पसन्द न हो। मराठी जीवन का परिचय 'काव्यशास्त्र-विनोद' के वातावरण में हिन्दी जगत को देने का यह प्रयत्न है। मैं आशा रखता हूँ कि जब कोई उदासीनता मन में पैदा होती है और दिल दुखित होता है तो इस ग्रन्थ के किसी पन्ने को पढ़ने से मन उल्हासित होगा।

प्रबोधिनी एकादशी, कार्तिक
संवत् २००७, नई दिल्ली

न० वि० गाडगील

विषय-सूची

सोमनाथ मन्दिर



1.

एक हज़ार वर्ष बाद

"समझे, क्या हो रहा है ?" मैंने जो टेलिफोन कान पर लगाया तो सुपरिचित और प्रसन्न आवाज में ये शब्द सुनाई पड़े। आजकल घर में टेलीफोन होना घर में गजान्त लक्ष्मी होने के समान है। युद्धकाल में पैदाइश कम और मांग ज्यादा होने की वजह से सर्वत्र नियंत्रणों का राज्य हो गया था। ये नियन्त्रण चन्द वर्षों तक ही जिन्दे रहेंगे ऐसा माना जाता था, किन्तु अनुभव तो यह हो रहा है कि ये नियंत्रण, ये कंट्रोल सप्त चिरजीवियों के समान चिरंजीव होने वाले हैं। घर में टेलिफोन होना प्रतिष्ठा, सत्ता व सम्पत्ति का द्योतक रहा है। अब भी वही हालत है। और अगर वह टेलिफोन मुफ्त में मिला हो तो कहना ही क्या ? इस पर भी अगर एक नहीं पांच हों, एक पर्सनल असिस्टेंट का, एक पर्सनल सेक्रेटरी का, एक आम, एक दफ्तर का और एक खास खुफिया, जिसका नम्बर इने-गिने व्यक्तियों को ही मालूम हो, तो फिर बात ही क्या ? पहले जमाने में पंचहजारी सरदार होते थे, उसी तरह मैं आज पंच टेलिफोनी मन्त्री हूं। किन्तु इन पांचों में से एक का भी नम्बर मुझे निश्चित

रूप से याद नहीं, क्योंकि मैं समझता हूं कि ऐसी छोटी-छोटी बातों को याद में रखना मेरे पद की प्रतिष्ठा के लिए ठीक नहीं।

बात यह है कि उनमें से ही एक टेलिफोन पर ऊपर बताये हुए शब्दों को मैंने सुना। इसके पहले रेडियो पर जूनागढ़ के बारे में कोई महत्व का वक्तव्य होने वाला है, ऐसी खबर मिली थी। जूनागढ़ एक ऐसा सवाल था जिसके बारे में जनता और सरकार दोनों में बहुत चर्चा होती थी और रंज भी। कुछ दिन पहले मैं पूना गया था और वहां की सार्वजनिक सभा में कह चुका था कि 'जूनागढ़' जूना-गढ़ होने वाला है, यानी पुराना और इतिहासलुप्त हो जाने वाला है। जूनागढ़ में जो कुछ होता था वह मुझे मालूम था। वहां की वास्तविक स्थिति क्या थी इससे मैं परिचित था और किस तरह से वहाँ की घटनाओं में परिवर्तन करना या करवाना था यह भी मुझे मालूम था। किन्तु प्रसव हमेशा सुलभ ही होता है, ऐसा नहीं। किसी में देर लगती है, किसी में बात बहुत जल्दी हो जाती है और किसी में शस्त्रक्रिया करना ही उचित हो जाता है। उपर्युक्त शब्दों को सुनने के बाद 'नहीं' कहना बड़ा मुश्किल था और जो व्यक्ति उन शब्दों को कह रहा था वह असामान्य और परिचित था। मैंने कहा "हां।" "क्या लगता है तुमको?" मुझसे पूछा गया। मैंने कहा—"जो कुछ हुआ है वह बिलकुल ठीक है।" टेलिफोन बन्द हो गया।

रात के दस बज चुके थे। हिन्दुस्तान सरकार की नौकरी बारह घंटे से ज्यादा करके मैंने आराम का हक प्राप्त कर लिया था। मैं गद्दी पर लेट गया, किन्तु जो सवाल-जवाब हुए थे उनको बार-बार याद करता रहा। सोचता रहा—"किस बारे में यह सवाल था?" मन्त्रिमण्डल के सामने बहुत से अनिर्णीत प्रश्न थे, वे एक के बाद एक मन के सामने आने लगे। अन्त में यही निश्चय किया कि जब आवाज में संतोष है और जब सरदार

खुशी में मालूम होते हैं तो जरूर ही यह सवाल जूनागढ़ के बारे में होगा। जूनागढ़ के बारे में सरदार साहब के साथ सब से ज्यादा मैं रहा यह बात सब जानते थे। "जूनागढ़ की समस्या हल हो गई, यही इसका मतलब है"; इस विचार से मेरा मन प्रमुदित हुआ और उसी समाधान के वातावरण में सब सुख और दुःख को खतम करने वाली निद्रा ने मुझे अपने अङ्क में ले लिया।

दूसरे दिन मन्त्रिमण्डल के कमरे में सरदार साहब मुझे मिले। मैंने उनको बधाई दी, क्योंकि उस समय तक जूनागढ़ के बारे में सब बातें खुल चुकी थीं। सब दुनिया उनको जान चुकी थी। जिस वक्त इस सवाल को हल करने की कोशिश हो रही थी उस समय कई लोग नाराज थे, कईयों के दिल संशय से भरे हुए थे, कईयों के हाथ कांपते थे। जूनागढ़ ने नये राजकाल में बहुत पेचीदा हालत पैदा कर दी थी। वैसे तो सवाल बहुत छोटा था, किन्तु समझ लीजिए कि वह थी तो लघुमूर्ति किन्तु बृहतकीर्ति हो चुकी थी। जूनागढ़ कुटिल षड्यंत्र का क्षेत्र बना हुआ था। वह नीति का प्रयोग-क्षेत्र हो रहा था। बात यह थी कि जूनागढ़ में जो विजय कमाता उसके लिए अन्य क्षेत्रों में भी विजय निश्चित थी और वहां अपयश आने के माने थे हाथी के कान में चींटी का जाना और उसकी मृत्यु होनी। काम तो नाजुक था किन्तु निश्चित कदम उठाये बिना काम चलने वाला नहीं था। जूनागढ़ का सवाल इतना बड़ा, इतना महत्व का था कि मैं नहीं समझता कि उसका पूरा मूल्यांकण अभी हो सकता है। वर्षों के बाद जब वर्तमान काल का इतिहास लिखा जायेगा और सब बातें, जो आज कोई लिख नहीं सकता और कह भी नहीं सकता, जब मालूम हो जायेंगी तब जो कुछ सरदार साहब ने किया वह ठीक प्रमाण से मालूम होगा।

महान् शिल्पकार, पटेल

एक बात निश्चित है—वह यह कि जिस महान् व्यक्ति ने जूनागढ़ के सवाल को हल किया, वहां की घटनाओं को रूप और आकार दिया, वह एक बड़ा शिल्पकार और एक दृढ़निश्चयी मूर्ति है। सरदार अल्प शब्द और प्रचंड कृति के समन्वय हैं। भविष्य में क्या होगा और कैसा होगा यह तो ऐसा समझिये कि वह प्रेरणा से ही जानते हैं। लम्बा-चौड़ा वक्तव्य देना या निबन्ध लिखना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं उनकी बुद्धि तर्क-प्रधान नहीं। भावुकतापूर्ण निवेदन में वह रस नहीं लेते। व्यवहार को वह जानते हैं और उनकी बुद्धि बिलकुल व्यवहारिक है।

मंत्रिमंडल में जब जब जूनागढ़ के सवाल पर चर्चा हुई मैं सदा उनका विनीत साथी रहा, और इसलिए उनका अभिनन्दन करने का सबसे अधिक अधिकार मेरा था। मैंने उनको बधाई दे दी। उन्होंने अपनी आदत के अनुसार अपना बायां हाथ मुंह के ऊपर फिराया और अपनी खास हिंदी में पूछा—"अब क्या करोगे?" मैं जानता था कि जो जवाब वह चाहते थे वही मैं दूँगा। इसका उन्हें भी पूरा यकीन था। आम तौर से उनका मन किस सवाल पर किस तरह से चलता है यह मुझे उनका निकट परिचय होने से मालूम था। मैंने जवाब दिया—"अभी तो जूनागढ़ जाना चाहिए।" "हां, कुछ ऐसा ही सोच रहा हूं," सरदार साहब ने उत्तर दिया।

दो घंटे के बाद मंत्रिमंडल की मजलिस खतम हो गई। हमारे मंत्रि-मंडल में कांग्रेस कार्यसमिति के चन्द सभासद हैं, किन्तु जैसी लम्बी-लम्बी बहस कार्यसमिति में होती है वैसी इधर नहीं होती। इसके माने यह नहीं कि यहाँ किसी को अपना व्यासंग या विद्वत्ता बताने के लिए कोई अवसर नहीं। वास्तव में कार्यकारिणी का अर्थ है जल्दी जल्दी काम करने वाली

संस्था। समझ लीजिए कि त्वरा ही उसका चैतन्य है, गति ही उसका प्राण है। ऐसा होते हुए भी हमारे मंत्रिमंडल की सभा कभी कभी घंटों तक चलती है। विषय विविध होते हैं। और जो कुछ निर्णय होता है उसका परिणाम व्यापक और दीर्घकालीन होने के कारण अधिक समय बहस में ख़र्च होता है।

सभा खतम होने पर मैं घर आया। एक घंटे बाद सरदार साहब ने फोन पर पूछा—"चलोगे न?" दिल की बात उन्होंने कही। मन जाने को कर ही रहा था। मैंने कहा—"हां।" सरदार साहब बोले—"संध्या को आओ, सब कुछ तय करेंगे।" दूसरे दिन हवाई जहाज से जूनागढ़ जाने का प्रोग्राम तय हो गया।

हवाई जहाज नवानगर के राजा साहब का था, जिनको जामसाहब कहते हैं। एक दिन पहले हिम्मतसिंह जी उसको ले आये थे। हिम्मतसिंह जी जामसाहब के छोटे भाई थे और दो वर्ष के लिए धारासभा के सदस्य भी थे। सरकार की ओर से नामजद होते हुए भी वह सरकारी 'ह्विप' को नहीं मानते थे। १९४६ में कई बार उन्होंने कांग्रेस के साथ राय दी थी। वह कर्नल थे और बरसों तक जापान में रहे थे। विमान की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी और उसमें सफ़र करने वाले मुसाफिर भी थोड़े थे। सरदार साहब, उनकी सुपुत्री, उनके सेक्रेटरी, संजय याने एसोसियेटेड प्रेस का संवाददाता। मंगल-प्रभात के समय हमने दिल्ली छोड़ी। आकाश निरभ्र था। हवाई जहाज बड़े वेग से चल रहा था। अन्दर हम सरदार साहब के साथ बातें करने में व्यस्त थे। इस देश के, खास करके राजनीतिक क्षेत्र में रहने वाले छोटे-मोटे व्यक्तियों को, सरदार साहब अच्छी तरह पहचानते थे। प्रांत-प्रांत के राजनीतिक क्षेत्र की हालत और वहां के विचार-प्रवाह का पूरा-पूरा परिचय सरदार साहब को है यह बात उनके साथ क्षणमात्र

संभाषण करने से मालूम हो जाती है। किसी व्यक्ति का वर्णन एक ही अर्थपूर्ण विशेषण से करने में वह बड़े पटु हैं। सारगर्भ वाक्य और मार्मिक पदावलि—ये तो उनके लिए बड़ी मामूली बात है। समय समय पर उनके शब्द शल्यवत होते हैं। इस बात को हमारे समाजवादी उनका एक बड़ा अपराध समझते हैं। उनके भाषण में विनोद होने के कारण वह दिल को नहीं काटता।

हमारे भाषण में बहुत सारे विषय आ गये, खास करके बम्बई के कार्यकर्त्ताओं और पार्टियों के बारे में चर्चा हुई। साहित्य को छोड़ कर सभी विषय चर्चा में आये। राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ परिवर्तन हुए थे उनकी चर्चा करते-करते रम्यता और 'क्षण क्षण नवता' प्राप्त होती थी। कुछ महीनों पहिले जामसाहब के वक्तव्यों को हिंद-स्वातन्त्र्य का विरोधी माना जाता था। उनकी चाल साफ़-साफ़ हिंद के खिलाफ़ थी। उनमें व सरदार में अहि-नकुलवत सम्बन्ध था। इस बात को तो मैं अच्छी तरह जानता था। मैंने जान बूझकर कर्नल साहब से पूछा—"क्यों, पहले जाम-नगर जाओगे?" "हां, जामसाहब की इच्छा है, कि पहले सरदार का स्वागत वही करें।" मैंने सरदार साहब की तरफ़ देखा, वह समझ गये। उन्होंने कहा—"अब सब बदल गया।" और वास्तव में बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका था। कुछ परिवर्तित हो रहा था और जो कुछ बचा-खुचा था वह भी निश्चय ही परिवर्तित होने वाला था। भडोल से जितना नहीं हो सकता था उतना १५ अगस्त को रायसीना में जो कुछ घटना हुई उससे भारतीय शासन के क्षेत्र में हो चुका था। सुस्थित विचार-प्रासाद गिर गये थे। राजनीतिक संसार की भूमि हिल उठी थी। अतीत अपना अवशेष केवल स्मृतियों को बता रहा था। और भविष्य कर्तृत्व को खींचने की गड़बड़ी में व्यस्त मालूम होता था। विद्यमान किंचित स्तब्ध, किंचित संभ्रमित किन्तु

आशायुक्त दृष्टि से स्मृतियों को पीछे छोड़कर भविष्य को प्रयत्न रूपी बाजुओं में लेने के लिए आतुरता के साथ कदम-कदम उठाता था। अनेक बुद्धिमान व्यक्तियों के होते हुए भी परिस्थिति करवट बदल चुकी थी, इसका पूरा मूल्यांकण न हुआ। कितने ही सज्जन तर्क को पकड़ते हुए जो हुआ उसे अशक्य बतलाने की कोशिश कर रहे थे। इतिहास के सिद्धांत भौतिक शास्त्र के सिद्धांत के समान निरपेक्ष हैं, ऐसा समझ कर जो कुछ हुआ वह सिद्धांत के विसंगत हो गया इसलिए वह हुआ ही नहीं इस तरह के विचार रखते थे। जैसे कि हमारे ज्योतिष जानने वाले कहते हैं कि चाहे कुछ भी हुआ हो लेकिन ग्रह ऐसा नहीं बतलाते, इसलिए वह हुआ ही नहीं, उसी तरह यह भी था। राजनीतिक क्षेत्र में जो अपने को बड़े अनुभवी और विज्ञ समझते थे वे आत्म-निरीक्षण करने लगे और सोचने लगे—"आखिर हम विज्ञ हैं या नहीं?" कुछ भी हो, आम जनता तो श्रद्धा के प्रकाश में नेताओं द्वारा बताये गये मार्ग पर चल रही थी।

अचल और नित्य ऐसी कोई वस्तु राजनीति में हो ही नहीं सकती, इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते थे। ये लोग प्राप्त की उपासना करके, क्या प्राप्तव्य है और वह कैसे प्राप्त होगा इस विवेचना में थे। संक्षेप में दुनिया बदल गई थी। चन्द लोगों ने समय को समझा, चन्द लोगों को समय समझता था।

जामनगर में स्वागत

हमारी बातें अभी चल ही रही थीं कि हमारा हवाई जहाज जामनगर हवाई-अड्डे पर पहुंचा। यहां सब मरुभूमि थी और ऊपर निरभ्र तथा नीला आकाश था। किन्तु इन दोनों का संगम और सम्मेलन सौंदर्य को ही व्यक्त करता था। ऐसी बाह्य सृष्टि से मन का काव्यमय होना अपरिहार्य था। मराठी कवि की यह पंक्ति याद आ गई—"पति गेले काठियावाडासी,

गिरनार अबूच्या पहाड़ासी; " जिसका मतलब है कि पति काठियावाड़ को चले गये, गिरनार और आबू के पहाड़ में बसते रहे। कवि तो आबू और गिरनार दो पर्वतों को एक पंक्ति में लाया है, किन्तु इन दोनों में अन्तर बहुत है। कविता का वास्तविक अर्थ यह है कि मराठा वीरों ने काठिया-वाड़ को जीत कर गिरनार तक मोर्चा लगाया था, अपनी वीर पत्नियों को देश में छोड़कर वे विदेश में विजय कमाते-कमाते गिरनार तक पहुंच गये थे और वहां उन्होंने अपनी विजय-पताका फहराई थी। इस पंक्ति को मैं मन ही मन गाता रहा। इसके शृङ्गार, वीर रस, लज्जत और समाविष्ट भावना को मन में सोचता-सोचता मैं तद्रूप हो गया। ये सब भावनाएं अब समझ लीजिए पार्थिव रूप लेने लगीं। मेरी नज़र के सामने वायुयान के बदले पचकल्याणी अबलख घोड़ा खड़ा है, ऐसा मालूम होने लगा। खादी पहने हुए सरदार को मैंने बख्तर पहन सिर पर लोहे का टोप लिये और हाथ में हथियार लिये हुए सेनापति के रूप में देखा सर्वत्र हथियार बन्द सिपाही नजर आये। दक्षिण बांह और दक्षिण आँख स्पंदन करने लगे। कुछ शुभ होने वाला है, ऐसी सूचना देने लगे। अब मैं हरहर महादेव की घोषणा करके आगे बढ़ने वाला ही था कि इतने में कर्नल साहब मेरे पास आये और बोले -- "जामनगर आ गया"। मैं स्वप्न जगत से वास्तविक संसार में आया। इतने में हमारा हवाई जहाज जमीन पर उतरा और उसकी आवाज होने से हमारा स्वप्न समाप्त हो गया। हवाई अड्डे पर फौज खड़ी थी। सलामी देने के बाद जामसाहब की गाड़ी में हम बैठे और उनके प्रासाद में गये। जलपान हुआ और उसके बाद हम मोटर में शहर की तरफ चले। मानो सब शहर रास्तों पर खड़ा है, इतनी भीड़ थी। जगह-जगह द्वार बने थे। "हिन्द विजयी हो", ऐसे-ऐसे फलक स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए जगह-जगह नजर

आते थे। यह जामसाहब की नगरी नववधू समान मालूम होती थी। चक्रांवित तिरंग निशानों की मालाएं नववधू का भाल-प्रदेश सुशोभित करती थी। जनता त्योहार की पोशाक पहने औत्सुक्य के साथ भीड़ को बढ़ाती थी। इस समय स्त्रियों की सहज सुलभ शालीनता मालूम नहीं कहां लुप्त हो गई थी। स्त्रीवर्ग बहुत प्रगल्भता के साथ आगे जाने की कोशिश करता था, ऐसा मालूम होता था। सब जगह पहली कतार उन्हीं की थी। संख्या में भी वह अधिक मालूम होती थीं। उच्च, श्यामल किन्तु आकर्षक सिर पर जलकलश लिये हज़ारों नारियां मार्ग में नजर आती थीं। वहां राजपुरुष का स्वागत करने की ही प्रथा है। हम आहिस्ते-आहिस्ते जा रहे थे। जामसाहब हमारे सारथी थे। सर्वत्र मालाओं और फूलों की वर्षा होती थी। कई मील तक मोटर चलती रही। दोनों तरफ़ जनता-सागर उत्साह से प्रफुल्लित हो रहा था, नारे सुने जाते थे। दो घंटों के बाद हम प्रासाद में वापस आये। अगर काठियावाड़ में सरदार साहब हस्तक्षेप करेंगे तो उनके लिए खतरा है, ऐसी चेतावनी देने वाले जाम-साहब आज हवाई अड्डे पर सरदार साहब के स्वागत में आये, उनको बड़ा भाई कहकर आलिंगन किया, उनका सारथ्य भी किया। दिल्ली-पति के समान उनका प्रबन्ध रखा। इन सब बातों को मैं सोचता रहा। इस सब का क्या मतलब है? सरदार आज सत्ताधीश है। सब गुण कांचन का आश्रय करते हैं और सब जनता सत्ता को प्रणाम करती है, यही सत्य है।

राजकोट में अपूर्व उत्साह

भोजन के बाद हम हवाई अड्डे पर आये और कोई एक घंटे में राजकोट पहुंचे। हवाई अड्डे पर मराठा पलटन ने स्वागत किया। बाद में हम रेसिडेन्सी गये।

आध घंटे में हम सभा स्थान पर पहुंचे। वहां प्रचंड जनसमुदाय उपस्थित था। इसी शहर में १९३९ के मार्च मास में महात्माजी ने अनशन किया था। वह बात आज याद आई। वह राजा अब स्मृति मात्र रह गया था और उस प्रधान का जो राजा से भी अधिक उन्मत्त था, आज इस दुनियां में नामोनिशान भी नहीं था। वह अनियंत्रित सत्ता बरबाद हो चुकी थी। आज के जलसे में महत्त्व का ऐलान होनेवाला है, ऐसा मालूम होता था। और जनता भी बहुत उत्सुक थी। जनता की स्वातन्त्र्य-लालसा पहले से ज्यादा तीव्र थी। जनता उत्तरदायी सरकार को पुरुषार्थ मानती है। राजकोट के ठाकुर सभापति थे और सभा में काठिया-वाड़ का दुश्मन और विप्लवी आज बोलने वाला था। जनता का तो वह पहले से मित्र था और राजा लोग उसकी मैत्री सम्पादन करने में व्यस्त हो गये थे। ठाकुर साहब ने सभापति की हैसियत से सरदार साहब का स्वागत किया और उत्तरदायी सरकार बहाल करने की घोषणा की। तालियां गूंज उठीं। बिजली की रोशनी में ऐसा मालूम होता था कि विकसित कमलों का यह बगीचा है, क्योंकि जनता प्रमुदित हो गई थी और आनन्द लोगों के मुख पर नाच रहा था। सरदार साहब ने अपना भाषण गुजराती में दिया। उन्होंने केन्द्रीय सरकार की नीति का विवरण दिया; जो हिंद में आ गये थे, उनको बधाई दी और जो विरोधी थे और मुखालफत करते थे उनको चन्द सारगर्भित शब्दों में समझाया। जो अनिश्चित थे उनके भविष्य का उन्होंने अच्छी तरह कथन किया। ज्यों-ज्यों सरदार साहब बातें करते जाते थे त्यों-त्यों जनता उत्तेजित और उल्लसित होती थी। उनका वक्तृत्व स्वर में शीतल किन्तु अर्थ में तेजस्वी था। परिणाम यह हुआ कि सागर के समान जनता के अन्दर शांति और बड़वानल जो दोनों बातें थीं उनपर साथ-साथ प्रभाव होता रहा। इस

दृश्य को देखकर एसोसियेटेड प्रेस के संवाददाता सरदार का भाषण न समझते हुए भी तालियां बजाते थे। अर्थ के पहले आवाज से वे समरस हो गये थे। और जब मैंने उनको अंग्रेज़ी में उस भाषण का अनुवाद बताया तो उनको यह व्यग्रता हुई कि कब मैं ये सब बातें सारी दुनियां को बताऊँगा।

रात को हम रेसिडेन्सी में रहे, वह प्रासाद-तुल्य रेसिडेन्सी जिसमें गवर्नर और वाइसराय को ही मेहमानी दी जाती थी। आज उसमें सामान्य जन और उनके नेता रह गये थे। मैं समझता हूं इस बात को भी यह परिवर्तन अच्छा मालूम होता था। जैसे जीवन में वैसे ही पार्थिव सृष्टि में भी विविधता और वैचित्र्य आनन्द को जन्म देता है। वैसे तो वैचित्र्य ही जीवन का सार है।

तारीख़ १२ नवम्बर १९४७ की रात हमने राजकोट की रेसिडेन्सी में गुज़ारी। यह रात संवत्सर की आखिरी रात थी। अमावस तिथि थी और आनेवाला दिन नूतन संवत्सर का पहला दिन था, वर्षारंभ का दिन। यह बात सच थी कि एक जमाना खतम हो चुका था और दूसरा शुरू हो रहा था। सुप्रभात काल में स्नान करके हम लोग हवाई अड्डे पर आ पहुंचे और चन्द मिन्टों के अन्दर जूनागढ़ पहुंचने वाले थे। हमारा वायुयान आकाश मार्ग को काट रहा था। गिरनार पर्वत के शिखर नजर आने लगे। कर्नल कहने लगे—"इस पर्वत राजी में सिंह रहते हैं।" मैंने कहा—"दिल्ली में भी सिंह हैं।" उन्होंने शंका और आश्चर्य के साथ मेरी तरफ़ देखा। आगे मैंने कहा—"उनमें से कुछ इसी वायुयान में हैं।" और मैं सरदार साहब की तरफ़ देखने लगा। खुद की तरफ़ देखने का मोह मैंने महान तपस्वी के संयम-समान रोका। कर्नल हंसे और उन्होंने कहा—"हां, ठीक है।" किसीने कहा—"सिंह का शिकार तो गायब हो गया।"

मैंने कहा—"कुछ अवसर तक, किन्तु पलायन से। खैर मैदान तो अभी साफ हो गया।"

गिरनार पर्वत को बाईं ओर छोड़ हमारा हवाई जहाज जूनागढ़ शहर के ऊपर से किसोदे हवाई अड्डे पर उतरा। यह अड्डा जूनागढ़ से लगभग तीस मील है। हवाई-अड्डे की हालत कुछ रणक्षेत्र सरीखी मालूम होती थी। वहां दो-चार नागरिक नज़र आये, शेष सब सैनिक थे। सब तरफ जीप खड़ी थीं। सैनिक जन मराठा पलटन के थे। कुछ अफसर भी मराठा थे। सरदार साहब और मैं एक जीप में बैठे आगे और पीछे जीप चलती थीं। उनमें सैनिक थे और उनके हाथों में स्टेनगन थीं। किसी भी काम के लिए वे तैयार मालूम होते थे। उनके शरीर में आनन्द व्याप्त था। कारण यह था कि दो ही दिन पहले जूनागढ़ की हुकूमत ने शरणागति मंजूर करके अधिकार भारत-सरकार को बहाल किया था। इस सिलसिले में इन सैनिकों ने बड़ी खूबी के साथ काम किया था। सैंकड़ों अरब और पठान जूनागढ़ में सशस्त्र थे और वे गड़बड़ करेंगे ऐसा माना जाता था। पुलिस और फौजी अफसर हुकूमत द्वारा मानी गई हार मानेंगे या नहीं, इसका पता नहीं था। इसलिए शहर का कब्जा लेने के वक्त कैसी भी हालत हो उसका मुकाबला करने के लिए सब तैयारियां करके भारतीय-अफसरों ने प्रबन्ध किया था। यही कारण था कि हमारे सैनिक विजय के आनन्द में थे, लेकिन वे बेहोश नहीं थे। अनुशासित थे, किन्तु उद्धत नहीं थे। आगे-पीछे फौज और बीच में हमारी जीप इस तरह से हम चल रहे थे। स्टेशन को जाने वाला रास्ता खास तौर पर बनाया गया मालूम होता था। दोनों बाजू फासले-फासले पर सशस्त्र और सुसज्जित सैनिक खड़े थे। स्टेशन के प्लेटफार्म पर थोड़ी संख्या में किसान और अफसर नजर आते थे। शरीर में पैजामा और एक खास किस्म का

कुरता, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, बदन से ज्यादा और ऊँचा, मुख पर किंचित कठोरता-- इस तरह का स्वरूप वहां खड़े हुए किसानों का मालूम होता था। जहां हम जीप से उतरे वहां से रेलवे के सैलून तक सैनिकों की दो कतारें खड़ी थीं। बीच में से जब हम चले तो फूलों की वर्षा हुई और 'हिन्दुस्तान जिन्दाबाद' के नारे सहस्र-सहस्र कंठों से उछलते रहे। इस बड़ी भारी भीड़ में मेरा मन सोचने लगा—"अगर कोई दुष्ट-बुद्धि मुसलमान हो तो क्या ?" फौरन मैं सरदार साहब के पास-पास चलने लगा और ज्यादा सतर्क होकर इधर-उधर देखने लगा। हम सैलून में बैठे। इतने में कुछ अन्तर पर 'जय सोमनाथ' की आवाज मैंने सुनी। उस ओर देखा। एक ऊँचा, वृद्ध किन्तु तेजः पुंज, भाल के ऊपर तिलक लगाये, मुद्रा गम्भीर, किन्तु कृत-कृत्य का संतोष जिसके चेहरे से टपकता था, ऐसा सज्जन खड़ा था। एक बार फिर उसने वही गर्जना की और वन्दन किया। मेरी इच्छा उसकी ओर देर तक देखने की थी। इतने में गाड़ी चल दी। डेढ़ घंटे तक रेलवे का यह प्रवास जारी रहा। प्रदेश बड़ा अच्छा मालूम होता था। बीच-बीच में वृक्ष और बगीचे भी नजर आते थे। करीब दस बजे हमारी गाड़ी जूनागढ़ स्टेशन पर पहुंची। मैं सोचता था और चिन्तित भी था कि देखें क्या दृश्य नजर आयेगा। सरदार साहब आज तो विजेता के नाते से जा रहे थे। पराजित कैसा बर्ताव करेंगे, उनके विचार क्या होंगे, उनकी भावना क्या रहेगी, इन्हीं बातों पर मैं विचार कर रहा था। मन में विचारों की भीड़ थी, बाहर लोगों की। स्टेशन पर, ऐसा समझ लीजिए, शृंगार अपना महोत्सव मनाता था। दीर्घकाल के बाद मिलन होने के वक्त जिस किस्म का वातावरण होता है वैसा ही यहां था। विरह की रात खत्म हो चुकी थी। हिंदू जनता आज अन्तःकरण में कृतज्ञता और गति में निर्भयता दिखलाती थी। बरसों तक अपमानित हुआ

स्वाभिमान गर्दन को उन्नत करके नवप्राप्त सम्मान को शान के साथ अनुभव कर रहा था। सब प्लेटफार्म सचेतन हो गया है, ऐसा मालूम होता था। हरेक व्यक्ति के हाथ में फूल की माला थी। हरेक व्यक्ति सरदार साहब को हार पहनाने के लिए आतुर था। डिब्बे से उतर कर पुष्पहारों को लेते-लेते हम वेटिंग रूम में पहुंचे। वहां जूनागढ़ के लुप्ताधिकार नौकर और हुकूमत चलाने वाले खड़े थे। नवाब साहब ने तो "मैं हाथ में शस्त्र नहीं लूंगा" मानो ऐसी प्रतिज्ञा करके जूनागढ़ को 'अले-कुम' करके खुद को 'पाकगत' किया था। जाते वक्त उन्होंने अपने साथ संपत्ति और कुत्ता यही पाथेय लिया। स्थावर को छोड़कर यही जंगम चीज उन्होंने पसन्द की। शायद उसीको उन्होंने श्रेष्ठ माना होगा। बात यह थी कि जहां उन्होंने फूल का संचय किया था वहां आज वह कंडे उठाने के लिए तैयार नहीं थे। वह काम उन्होंने अपने वफादार 'दोस्त-इ-दौलत' नौकरों के ऊपर सौंप दिया था। उस कतार में खड़े हुए ओहदेदारों में न्यायाधीश थे, सेनापति थे, अष्टप्रधान थे। इनमें एक अंग्रेज और सब मुसलमान थे। अंग्रेज ओहदेदार बिलकुल 'सुख दुःखे समेकृत्वा' जैसे रूप में था। जैसे काला-टोपी गुनहगार अलिप्त मन से मजिस्ट्रेट के सामने खड़ा होता है उसी तरह वह खड़ा था और मुंह पर कृत्रिम हास्य लाके नैसर्गिक दुःख को छिपाने की कोशिश करता था। जनता को त्रस्त करने वाला यह अधिकारी वर्ग मणि-विहीन सर्प के समान निस्तेज मालूम होता था। उनके सामने से हम जा रहे थे। हरेक का हमसे परिचय कराया जाता था। एक संस्मरणीय और ऐतिहासिक घटना हो रही थी। फ्रांस और जर्मनी की शरणागति के समय याद आये। बचपन में राजा पौरस ने अपनी तलवार सिकन्दर के सामने रखी थी, ऐसा मैंने इतिहास में पढ़ा था और वह बात याद आगई। बड़े मुंह

से 'हिंद के साथ लड़ेंगे' ऐसे नारे लगाने वाले ये औहदेदार अभी उत्तर के अनुयायी बन गये यह देखकर विश्वास आगया कि कभी न कभी इतिहास भी इंसाफ़ करता है। हम आगे चले तो आरजी हुकूमत के प्रमुख सामलदास गांधी और उनके साथी खड़े थे। उनके साथ हमारा परिचय कराया गया। कुछ ही सप्ताह पहले अल्पारम्भ करके जूनागढ़ रियासत को अपने संगठन में लानेवाले सामलदासजी बड़े प्रतिष्ठा-संपन्न सज्जन हैं। बड़े धैर्य और चातुर्य के साथ उन्होंने कदम उठाया। समय को समझा। कर्तव्यभूमि को बचाया और बिलकुल ठीक मुहूर्त पर प्रहार करके विजय पाई। यह बात ठीक है कि देश में जो हो रहा था उसकी वजह से उनको विजय प्राप्त हुई। लेकिन साथ-साथ यह भी ठीक नहीं होगा कि हम उनके कर्तृत्व को कम समझें या कम मानें। जूनागढ़ की पुरानी हुकूमत और जूनागढ़ की आरजी हुकूमत इन दोनों के प्रमुख व्यक्तियों के साथ जब हमारा परिचय कराया जाता था तो मानो ऐसा मालूम होता था कि हम दो पृथक्-पृथक् जमाने से जा रहे हैं। ऐसा लगता था जैसे एक का विनाश और दूसरे का उदय हो रहा है।

मोटर में बैठकर हम शहर की तरफ़ चले। पुराना शहर दीवालों के अन्दर है। नई बस्ती, दफ्तर, कालेज आदि संस्थाएं किले के बाहर हैं। रास्ते में सब जगह सैनिक नजर आते थे। एक बड़ी कोठी में, जो राजप्रासाद के समान मालूम होती थी, हमारी गाड़ी गई। वहां तोपें, टैंक और हाथ में बन्दूक लिए हुए जवान भरे हुए थे। वह सेनापति की छावनी थी। वहां हमारा हैडक्वार्टर के अफसरों के साथ परिचय करवाया गया। उन अफसरों में कई महाराष्ट्रीय भी थे। चाय पीने के बाद हम सभा-स्थान पर गये। वहां भी पूरा फौजी बन्दोबस्त था। चारों ओर राइफल लिये सैनिक खड़े थे। सभास्थान को फौज ने घेर लिया था। किन्तु जनता खुश

मालूम होती थी। यह बन्धन नहीं था, संरक्षण था। जनता और सेना के मनों में मिलन हो गया था। सैनिकों को जनता देखती थी, लेकिन उसके मन में डर के बदले अभिमान था। आत्मीय वातावरण की वजह से सुख और आनन्द उस सभास्थान में क्रीड़ा करते थे। जब सरदार वहां आये, प्रचंड जयघोष हुआ। जनता तो उनके नजदीक आने के लिए आतुर थी ही, सैनिकजन और भी आतुर थे। कुछ मिनटों के अन्दर कतार के साथ सभास्थान को घेरे हुए सैनिक जनतासागर में विलीन हो गये। खादी और खाकी एक जगह आने की वजह से विविधता में कुछ मौलिक एकता भी मालूम होने लगी।

स्वागत के बाद सरदार साहब ने अपना भाषण शुरू किया। उन्होंने मुसलमानों को पूर्ण नागरिकत्त्व और संरक्षण का आश्वासन दिया। फिर जूनागढ़ हिंदुस्तान में आना चाहता है या नहीं, यह सवाल किया। फौरन हिंदुस्तान जिंदाबाद के नारे लगे। हजारों हाथ ऊपर हो गये। एक क्षण के अन्दर जनमत आज़माया गया। भूमि पर बैठे हुए लोग अपने सहस्रावधी हाथों को ऊपर करते थे। ऊपर से सहस्र-रश्मि यह दृश्य देख रहा था। भूमिस्थित हरेक व्यक्ति मानो अपना शरीर पूर्णरूपेण बाहुरूप क्यों नहीं हुआ ऐसा मानता था और बार-बार हाथ ऊपर करता था। अनियंत्रित सत्ता के पदतलों से दलित हुए, जबरदस्ती से पीड़ित हुए, जीवन और वित्त के सतत विवेचना में गिरे हुए ये जीव संकट से मुक्त हुए मानो मन का आनन्द और प्राफुल्य अपने कर-कमलों से दिग्दर्शित कर रहे थे। फोटोग्राफर को शायद ही कभी इतना मनोहारी और ऐतिहासिक दृश्य मिला होगा। ऊपर उठाये हुए हाथ मानो पुराने जमाने की पुरानी हुकूमत को स्वर्ग का मार्ग बता रहे थे।

जब सामलदास जी खड़े हुए तो फिर से जयनाद हुआ। "अब मेरा

कार्य हो चुका, मैं हिन्दुस्थान सरकार का एक आज्ञाकारी नागरिक हूं और रहूंगा; मैंने जो कुछ किया वह जनता के लिए, उसमें न किसी जाति का सवाल था, न किसी धर्म का।" सामलदास जी के ये शब्द सुनकर प्रेक्षकों ने, जिनमें कई मुसलमान थे, तालियां बजाईं।

सभा खतम होने के बाद हम स्टेशन आये। वहां पता लगा कि हम सोमनाथ या प्रभातपट्टण को जा रहे हैं।

१३ नवम्बर १९४७! यह तो नवसंवत्सर का पहला दिन था। सुबह से दक्षिण भुजा फड़क रही थी। मन में कुछ व्याकुलता थी। कुछ-न-कुछ अच्छा होने वाला है, ऐसा मन को मालूम होता था, किन्तु बात स्पष्ट नहीं थी। विचारों के दृष्टिक्षेत्र में कुछ अभिनव नजर नहीं आता था। जो कुछ अबतक हो चुका था वह कोई बड़ी आने वाली घटना की सुन्दर पार्श्वभूमि है, ऐसा ही विचार मन में आया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई सुन्दर ध्वनि हम सुन रहे हैं। लेकिन आनेवाला संगीत कौनसा है, यह नहीं जान सकते थे। सैलन में सेनापति ने प्रोग्राम बताया। उसमें सोमनाथ मन्दिर को देखना भी था। वहां मुझे पता चला कि सोमनाथ मंदिर, प्रभातपट्टण जूनागढ़ के क्षेत्र में है। इस बात का पता चलते ही विचार-चक्र शुरू होगया। गाड़ी वेरावल पहुंची। वहां हम गाड़ी से उतर गये और फौरन मोटर में बैठकर प्रभातपट्टण को रवाना हो गये। यहां से प्रभातपट्टण ६ मील था। प्रवास में हम बिल्कुल भूमिपुत्र हो गये, यानी धूलि से भर गये। रास्ते के दोनों बाजू कब्रिस्तान नजर आते थे। उनमें जगह-जगह लोग खड़े हमारा स्वागत करते थे जिससे जीवन और मृत्यु का नित्य साहचर्य प्रस्थापित होता था। थोड़ी ही देर में हम किले की गिरी हुए दीवाल के पास आये और वहां से हमने 'त्रिवेणी' में प्रवेश किया। जिस भूमिभाग पर आबादी है उसे त्रिवेणी कहते हैं। कुछ मकान ठीक थे, किन्तु

अधिकतर गिरे हुए थे। इन दोनों को देखते-देखते हम सोमनाथ मंदिर के सामने आगये। श्मशान, गिरा हुआ किला, गिरे हुए मकान मानो यह नष्ट सृष्टि हमारी आंखों के लिए पूरी नहीं थी, इसलिए हमारी दृष्टि के सामने यह भग्न मंदिर आगया। अन्तःकरण में तूफ़ान-सा उठा। दिल बेचैन होने लगा। हमारे इर्द गिर्द सैकड़ों लोग थे। ये सब हिन्दू जिन्दा थे और हमारे सामने उनका भग्न मंदिर खड़ा था। यह दृश्य शल्य से भी ज्यादा दुःख देनेवाला मालूम हुआ। बीच में मंदिर और चारों तरफ़ खाली जगह थी। तीन तरफ़ से चहारदीवारी थी, जो बहुत कुछ गिरी हुई थी। पश्चिम में लगभग बीस फुट के फासले पर अरब सागर अमर्याद विस्तार से मानो पहरा दे रहा था। एक छोटा फाटक था, उसमें से हमने अन्दर प्रवेश किया। सामने मंदिर का प्रवेश द्वारा था, किन्तु वहां न द्वार था न चौखट।

ऊपर देखा तो शिखर भी नज़र नहीं आता था। याद आई कि इतिहास में लिखा है इस मंदिर के चंदनी दरवाजे महमूद ग़ज़नी काबुल ले गया था। हृदय में हजारों भावनाएं उठने लगीं। इसी जगह हजार वर्ष पहले इस्लाम के अनुयाइयों ने इस मंदिर की बेइज्जती की थी। इन अविंधों ने बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक इस 'पश्चिम' सागराधीश भगवान को मही में मिला दिया था। जान से भी धर्म प्यारा मानने वाले हिंदू जान को ज़्यादा मान कर उस समय भाग गये थे। जिसके लिए जिन्दा रहना व जिसके लिए मरना कर्त्तव्य समझा जाता था उस धर्म को मानने वाले उस वक्त कहां थे? सोमनाथ के सेवादारों ने देवालय की मूर्ति के संरक्षण के लिए मृत्यु का मोल देने के बजाय द्रव्य के साथ सौदा करना चाहा। 'मैं मूर्ति बेचने वाला नहीं, मैं मूर्ति का भंजन करने वाला हूं'—इसी वृत्ति से प्रेरित होता हुआ महमद एक महान व्यक्ति था इसमें कोई

शंका नहीं। कौन जानता है, कितनी बार वह इस महान् देश से संपत्ति और सतियां अपने देश ले गया ? मन में संताप, उद्वेग, नफ़रत, नानाविध भावनाओं का मानो एक सम्मेलन और संघर्ष होता था। क्या सर्वशक्तिमान प्रभु एक सामान्य मानव के सामने हतबल हो गया। अपने तृतीय नेत्र से जग का संहार करने वाला श्री शंकर अपनी तीनों आंखें बन्द करके संहार देख रहा था ? नहीं, नहीं ये देवता नहीं हो सकते। ये देव नहीं, जब इनमें देवत्व और कर्तृत्व ऐसे मानने वाले लोग न हों। आखिर परमेश्वर तो मनुष्य रूप से ही काम करता है ? उसकी शक्ति का आविष्कार करने वाला माध्यम कच्चा या कायर हो तो उसमें दोष शक्ति का कैसा ? झूठे धर्म से चलने वाली जनता मृत्यु-भय का त्याग ध्येय के लिए, आदर्श के लिए, कर नहीं सकती। श्रद्धा गुंजाइश को बर्दाश्त नहीं करती। श्रद्धा या तो जीती रहेगी या मरेगी। श्रद्धा और समझौते में समन्वय नहीं। एक चाल से ये दोनों नहीं चल सकते। मूर्ति को तोड़ना अगर धर्म है, अगर श्रद्धा है तो उसे बेचना धर्म-विरोधी काफिर का काम है। उसे बेचने का अर्थ अश्रद्धा प्रकट करना है। श्रद्धा के लिए मानव न मरे तो उसकी या तो श्रद्धा कम है या मानवता।

मैं मन्दिर को देख रहा था। वह सौंदर्यपूर्ण कलाकृति का नमूना आज बिलकुल बेडौल मालूम होता था। रेखबध और प्रमाणबध रचना आज हताहत हुई प्रतीत होती थी। दुःखी अन्तःकरण से हमने अन्दर प्रवेश किया। पहले भाग में अभी-अभी कुछ सफाई की गई है, ऐसा मालूस होता था। आगे जाकर सोमनाथ की मूर्ति नज़र आयगी, इस विचार से मैं आगे बढ़ा तो जो कुछ दृश्य देखा उससे मन और शरीर बिलकुल निश्प्राण हो गया। ऊपर देखा तो शिखर नहीं था, एक बड़ा छेद था जिससे ऊपर का नीला आसमान नज़र आता था। वही क्षेत्र था।

जिस जगह मूर्ति होनी चाहिए उस जगह एक बड़ा खड्डा था। वहां मूर्ति नहीं थी। इसी स्थान पर खड़े होकर उन अविंध्य ने धर्म-कार्य समझकर मूर्ति को फोड़-तोड़कर उसका भंजन किया था, यह इतिहास है। कहा जाता है कि कुछ लोग मूर्ति को बचाने के लिए उसके ऊपर गिरे। किन्तु उनको भी खतम कर दिया गया। जैसे प्राण-हीन शरीर होता है और रसहीन काव्य होता है वैसा ही वह मूर्तिविहीन मंदिर मालूम होता था। मेरी भावनाओं को सम्पूर्णतया वर्णन करने में भाषा असमर्थ है। कहां गई थी वह वैदिक संस्कृति, कहां था वह पूर्वजों का पराक्रम, क्या हुआ था उस 'कृण्वन्तो विश्वार्यम' की घोषणा को? हमारी मत्सर वृत्ति, भाई-भाई का वैर, धर्म और देश से व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रतिष्ठा को ज्यादा मानने वाली हमारी वृत्ति—इन्होंने इतिहासकाल में हमें बरबाद किया और वही काम अभी भी हो रहा है। मुझे अपने से नफरत हो आई।

समय पर छोड़ देने वाला या धोका देने वाला धैर्य, धैर्य नहीं। निश्चय ही कुछ-न-कुछ हमारे धर्म में, या हमारी संस्कृति में, या हमारी मनोरचना में दोष है। वैयक्तिक मत का अभिमान और अहंकार समाज-कार्य के लिए हम कब छोड़ेंगे? सामुदायिक हित और प्रतिष्ठा में हम कब रस लेंगे? कब हम जुड़ाई का मर्म समझेंगे? कब हम विवेक को जोड़ेंगे? कौन जाने, कौन यह करने वाला है? ऐसे विषण्ण विचार मन को काटते थे। इतने में सामने की दीवाल के ऊपर बड़े अक्षरों में लिखा हुआ 'महाराष्ट्र' शब्द मैंने देखा। उस शब्द में क्या जादू है यह वही जानता है जिसकी मातृभाषा मराठी है। लोहा से पारस का स्पर्श होने से वह जैसे सुवर्ण हो जाता है उसी तरह यह शब्द नयनों से मन में जाते ही विषण्ण विचारों का रूपान्तर प्रेरणा में हो गया। अनन्त भावना इस शब्द में समाविष्ट है। अच्छा और बुरा, पराक्रम का और पराभव का अटूट स्वार्थत्याग

का और वांछनीय लोभ का, जीवित की तमा न मनाने वाला और जान के लिए लाचार होने वाला ऐसा विविध इतिहास इस शब्द में समाया हुआ है। हिंदवी स्वराज्य का झंडा अटक के किनारे लगाने वाले पराक्रमी पुरखों का मैं वंशज इस भग्न मन्दिर को, इस मूर्तिहीन देवालय को कैसे देखूं, इस दृश्य को कैसे बर्दाश्त करूं ? शरीर रोमांचित हो गया। प्रेरणा रम्य कल्पना को जन्म देती रही। कुछ मंगल हो रहा है, ऐसी कुछ सुख की भावना मन को उल्लसित करने लगी। मैंने सरदार की तरफ देखा और मैं बोला—"यह मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता।" कुछ और बातें मेरे मन में आ रही थीं। मैं समझा कि मेरे मन में जो हो रहा है उसका कुछ अन्दाजा सरदार को लगा। मन के विचार अधिकतर स्पष्ट होने लगे। कल्पना रूप लेने लगी। हम मन्दिर के बाहर आये और पश्चिम की ओर सागर के पास हम गये। सागर में ज्वार आ रहा था। उसे यह तो मालूम नहीं हो गया था कि मेरे मन में क्या है। जो रम्य कल्पना मेरे मन में जन्म पा चुकी थी उसका स्वागत करने के लिए तो वह नहीं आ रहा था ? जिन वीर पुरुषों ने इस देश को सदियों के बाद स्वातन्त्र्य और एकता दी उनके कृतज्ञतापूर्ण पाद-प्रक्षालन के लिए तो वह नहीं आ रहा था ? इस प्रचंड देश में बहुविध घटनायें हुईं, भाग्योदय हुआ, नाश हुआ। लोग चढ़े और गिरे। इन सब बातों को देखने वाला यह गवाह ऐसा मालूम होता था कुछ बात देखने के लिए उत्सुक है। सागर के तीर के ऊपर मैंने अपनी कल्पना सरदार के सामने रखी। सुनते ही वह आनंदित हो गये। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा—"करो।"

फौरन मैं और सरदार पानी के पास आये, हमने पाद-प्रक्षालन किया और चन्द मिनट बाद हम मन्दिर के पास आये। अभी मन्दिर मेरे पीछे था। मैं, सरदार और जामसाहब प्रवेश-द्वार की देहली पर खड़े हो गये।

लोगों को बुलाया गया। दाहिने बाजू सागर क्षण-क्षण उल्लसित हो रहा था। हमारे सामने और बाईं ओर जनसागर भी उत्सुक और उल्लसित हो रहा था। पार्श्वभूमि में भग्न वस्तु निस्तब्ध थी। मैंने घोषणा की कि हिंद सरकार ने इस देवालय का जीर्णोद्धार करने का निर्णय किया है। हमारी पाई हुई सत्ता नाश के लिए नहीं निर्माण के लिए है। यही हमारा जीवन कार्य है। तालियों का प्रचंड नाद हुआ और एकाएक स्फूर्ति के साथ लोगों ने "जय सोमनाथ" की हुंकार लगाई।

एक निमिष के अन्दर सब वायुमंडल बदल गया। हां, एक हज़ार वर्षों के बाद इस स्थान पर इस घड़ी में यह घोषणा हो रही थी। एक हज़ार वर्षों के बाद इतिहास अपना ऋण चुका रहा था। जामसाहब ने एक लाख रुपया प्रदान करने की घोषणा की। वहां से जनसमूह 'जय सोमनाथ, जय सोमनाथ' नारे लगाता हुआ देवी अहिल्यादेवी द्वारा बनाये हुए सोमनाथ मंदिर की तरफ़ चला। वहां सभा का प्रोग्राम रखा गया था। उसी सभा में सरदार साहब ने भी ऐलान किया—"आज नूतन संवत्सर का पहला दिन है। आज के शुभ अवसर पर शिवालय का जीर्णोद्धार करने का निर्णय हिन्दुस्थान सरकार ने घोषित किया है।" फिर से 'जय सोमनाथ' के नारे सुने गये और लोगों ने इस बारे में दान देने के ऐलान किये। सारा प्रभातपट्टन मानो आज जाग्रत हो गया। यह इतिहासकालीन युद्ध-घोषणा हज़ार वर्षों के बाद प्रभातपट्टन की आबादी में सुनाई गई। सभा-समाप्ति के बाद हम वापस चले। मेरे मन में यह विचारधारा बहने लगी कि आगे कैसे काम करें। रास्ते में क़िले के पास सरदार साहब बोले—"इसको दुरुस्त करो। इस श्मशान, इस क़ब्रिस्तान की जगह बग़ीचा बनाओ।" मतलब यह था कि नष्ट-युग समाप्त हुआ था और निर्माण-युग शुरू हुआ था।

सोमनाथ के जीर्णोद्धार का निर्णय बेतार के तार द्वारा चन्द मिनटों के अन्दर भारत देश में फैल गया। वेरावल स्टेशन के ऊपर सेवादार आये। उन्होंने हमें आशीर्वाद दिया। गाड़ी चली। हम किसोदे स्टेशन आये और वहां से हवाई-अड्डे पर गये। आध घंटे के अन्दर हम जामनगर के हवाई-अड्डे पर पहुंचे। वहां तो ज़बरदस्त भीड़ जमा थी। रानी साहिबा ने हमें बधाई दी। दरबार गोपालदास बोले—"अभी मुझे पता लगा है कि सरदार के साथ आप क्यों आये? जीवन में यह कुछ नया अनुभव नहीं था। जो किया था वह स्फूर्ति के साथ, उसके बारे में कुछ दीर्घ विचार या पूर्व सूचना नहीं थी। किन्तु स्फूर्ति ने जो कुछ किया उसके लिये संकल्प का सद्‌गुण मुझपर लगाया गया, ऐसा अनुभव बहुत बार मुझे हुआ है। चाय लेने के बाद हम फिर विमान में बैठे। तेज़ी के साथ दिल्ली की ओर हमारा विमान जा रहा था। आते वक्त क्या विचार थे और जाते वक्त क्या। मुझे ऐसा लगता था जैसे मेरे नयनों के सामने हज़ारों हिन्दू वीर 'जय सोमनाथ, जय सोमनाथ' कर रहे हैं। सर्वत्र आनन्द और मंगल नज़र आता था। वास्तविक कार्य में कुछ विलम्ब था, किन्तु कल्पना का बीज बोया जा चुका था। एक हज़ार वर्षों के बाद इतिहास अपनी चाल बदल रहा था। यह एक बिलकुल क्रांतिकारी बात थी और देश ने भी वैसा ही माना। किसी ने कहा—"हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा है।" किसी ने कहा—"पुरानी कला का उद्धार हो रहा है।" किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। किन्तु एक बात में सब की राय एक थी, और वह बात थी 'जय सोमनाथ' की घोषणा।



2.

"ग्यानू मरा नहीं, बच्चा बन गया है"

जो राजबन्दी जेल से छूटकर आते हैं, उनका यह एक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उन कैदियों के सगे सम्बन्धियों से मिलें, जिनके साथ उन्होंने जेल में दिन बिताये हैं। महीनों तक अथवा बरसों तक जो लोग इकट्ठे रहते हैं, उनके स्नेह-सम्बन्धों का एक-दूसरे के जीवनों पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यदि यह सहनिवास बाहर न होकर जेल में हुआ हो तो उसका प्रभाव जीवन पर और भी अधिक पड़ता है आज मुझे यह नहीं बताना है कि दीर्घ-कालिक कारावास का व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव होता है, प्रत्युत जब कैदी यह बताता है कि इकट्ठे एक साथ नहीं छूटते, कभी कोई छूटता है कभी कोई, तो उस अवस्था में उनकी मानसिक अवस्था क्या होती है। पच्चीस गत वर्षों में दस बारह बार मैं जेल हो आया हूं। तीन प्रांतों की कुल जमा सात जेलों में रहने का अवसर मुझे

मिला है। जितनी बार जेल गया उतनी ही बार जेल से छूटा भी। जीवन और मरण जैसे एक द्वन्द्व है, उसी प्रकार क़ैद और रिहाई भी एक द्वन्द्व है। जिस प्रकार यह एक अटल नियम है कि जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा उसी प्रकार यह भी अटल ही है कि जो गिरफ्तार हुआ है वह रिहा होगा। पर इसका यह मतलब नहीं कि इस नियम का अर्थ-ज्ञान राजबन्दी को पहले ही किसी दिन हो चुका होता है। हां एक बात पक्की है। रिहाई के दिन उसकी मानसिक अवस्था अनिश्चित-सी रहती है। वह खुशी भले ही महसूस कर रहा हो फिर भी उसके चित्त में एक प्रकार का विभ्रम-सा रहता है। अपने अनेक क़ैदी साथियों को पीछे छोड़कर जब वह रिहा होने लगता है, उस समय उसकी मनोदशा बहुत कुछ दयनीय रहती है। उस अवस्था में वह अनेक राजबन्दियों के संदेश लिया करता है, ताकि उन्हें वह उनके प्रियजनों तक पहुंचा सके।

मैं जब जेल से छूटा तो उस समय अपने साथ जेल में रहनेवाले अनेक तरुण कार्यकर्त्ताओं के संदेशों का, जिन्हें उनके प्रिय परिजनों तक पहुँचाना था, बोझा लिए हुए बाहर आया। प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न अनेक रीतियों से कैदियों का अपने प्रियजनों से पत्र-व्यवहार तो चलता ही रहता है, तो भी जेल से रिहा होकर आए हुये व्यक्ति के मुख से अपने बेटे, भाई तथा पत्नी की खबरें सुनकर सम्बन्धियों को ऐसा ही आनन्द अनुभव होता है, जैसा उनको प्रत्यक्ष मुलाकात में हुआ करता है। कालिदास की यह उक्ति 'कान्तोदन्तः......संगमात किंचित् न्यूनः' पूर्णतया सार्थक है। प्रियजनों के समाचारों का महत्व उतना ही होता है, जितना उनके साक्षात्कार का होता है। सो इस प्रकार के संदेश-वाहन के अनेक भार अपने कंधों पर लिए मैं बाहर निकला था; पर बाहर आने पर मुझे इस मेघदूती काम के स्थान पर कुछ और ही काम करना पड़ा।

अपने प्रांत के इस छोर से लेकर उस छोर तक जाना मेरे लिए आवश्यक हो गया था। असफल एवं अन्यमनस्क जनता में उत्साह-संचार के लिए गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की ध्वनि जहां-तहां सुनाई दे रही थी। जनता को अनाथ और असहाय अवस्था में समझकर क्षुद्र अधिकारियों द्वारा स्थान-स्थान पर किए जाने वाले अत्याचारों का आर्त्तस्वर भी निरंतर सुनाई देता जा रहा था। इसी प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में मैं सतारा जिले के प्रशांत रमणीय कृष्णा तीरवर्ती प्रदेश में परिभ्रमण कर रहा था। कल्हाड़ के पवित्र नगर तथा पुण्यक्षेत्र में कोयना नदी के प्रीति संगम के कारण उल्लसित और प्रोत्साहित हुई कृष्णा नदी उस गांव के समीप से होकर बह रही थी। जब मैं गांव में प्रविष्ट हुआ उस समय रात के दस बजे होंगे। आकाश में चन्द्रमा का प्रकाश फैला हुआ था। नदी की तीर-वर्ती झाड़ियों पर, नदी की धारा पर, नदी की रेती पर इस चन्द्र प्रकाश के जो विविध स्वरूप प्रतिफलित हो रहे थे, उन्हें देखकर चित्त आहलाद का अनुभव कर रहा था। मेरे मन में प्रश्न उठा, क्या इस चांदनी में यथेच्छ विहार करने वाले इस ग्राम के निवासियों के चित्त में भी इसी प्रकार का आह्लाद होगा? अपने साथ के कार्यकर्त्ता से मैंने इस गांव की सारी घटनाओं का इतिवृत्त पूछना आरम्भ किया।

जनता का उत्साह

मेरा यह पथ प्रदर्शक एक सोलह सत्रह वर्ष की उम्र का कार्यकर्त्ता था। उसने मार्क्स के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था, उसे कांग्रेस के इतिहास की जानकारी नहीं थी, विश्व से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर आजकल किस प्रकार का विचार-प्रवाह चल रहा है यह उसे मालूम नहीं था। आन्दोलन के आरम्भ काल में सब कहीं जो एक तूफान-सा आ गया था, उसमें पाठशाला के जीवन से वह बाहर फेंक दिया गया था। यद्यपि इस

पथ-प्रदर्शक की पढ़ाई-लिखाई केवल चार पांच कक्षाओं तक ही हुई थी और यद्यपि वह उम्र में भी छोटा ही था, तो भी उसे देखकर हठात् बहिर्जी (शिवाजी के एक दूत) का स्मरण हो आता था। गत दो वर्षों में वह कहां-कहां घूमा फिरा, क्या-क्या काम वह करता रहा, इत्यादि उपन्यास जैसे रहस्य भरे वृत्तांत वह सुनाता जा रहा था, जिन्हें सुनकर मेरे शरीर के रोंगटे खड़े हो आते थे। मैंने कहा,—राघू तेरी बात तो हो गई, अब अपने गांव की बातें सुना न!" उसने कहा—"जब हमारा मोर्चा ठन रहा था, उस समय गोलियों से इस गांव के सात व्यक्ति मारे गये, अनेक घायल हो गये, पचास-साठ आदमियों को सज़ाएं हुईं, और दो सौ से ज्यादा व्यक्तियों को 'डेटिन्यू' बनाकर सरकार इस गांव से पकड़ कर ले गई। सिर्फ दो दिन पहले ही की बात है; पुलिस वाले इस गांव के फ़रार हुये आदमियों को पकड़ने के लिए आये थे। बात यह है कि सरकार पूरी तरह से इस गांव के पीछे पड़ी हुई है।"

"इस गांव में कितने घर हैं?" मैंने पूछा।

"बड़े और छोटे सब मिलाकर सौ के करीब घर हैं।" उसने उत्तर दिया। मेरे मन में विचारों का एक मन्त्र-सा चलने लगा। इतने से गांव में इतने लोगों को सज़ा हुई, इतनों को पकड़ लिया गया, इतनी बार पुलिस का छापा पड़ता है, तब भी जिनका धैर्य विगलित नहीं होता ऐसे ग्राम-बन्धुओं का दर्शन करने का अवसर मुझे प्राप्त हो रहा है, सचमुच यह तो बड़ा अहोभाग्य है।

हम गांव में प्रविष्ट हुए। अनेक ग्रामवासी मेरी राह देख रहे थे। उनमें चौदह से लेकर अठारह वर्ष की उम्र के लोगों की ही अधिक भरमार थी। उनके साथ मैं अपने ठहरने की जगह पर आया। ग्राम के बहुत-से-छोटे-बड़े लोग मुझ से मिलने के लिए आए तथा उन्होंने आठ अगस्त के बाद

को उस गांव की उल्लेखनीय घटनायें कह सुनाईं। नेता के न रहते हुए पथ-प्रदर्शक के न रहते हुए इन लोगों ने जो कुछ काम सहज स्फूर्ति के वश होकर किया वह जहां पूर्ण अहिंसात्मक था वहां वह उदात्त भी था। इसी उदात्त वृत्ति तथा भावनाओं का आविष्कार रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा इन गांवों और इस प्रदेश में दृष्टिगत हो रहा था। गांव वालों के आपस के बड़े-बड़े झगड़े गांववाले ही पंचायतों की मार्फत तय कर लिया करते थे। कार्यकर्त्ताओं के संगठन के कारण सरकारी अधिकारियों पर जैसा एक प्रकार का आतंक-सा बैठ गया था, वैसा ही आतंक गांव के गुण्डों, डाकुओं और लुटेरों आदि पर भी बैठ गया था। गांव की सफाई भी बहुत बढ़ गई थी। ग्रामवासी कार्यकर्त्तागण बड़े अभिमानपूर्वक कहा करते थे कि ग्राम-राज्य का कार्य हम पूरा करके रहेंगे। उनके संगठन कार्य की प्रतिक्रिया स्वरूप ही इस भाग में पुलिस वालों की इतनी दौड़-धूप मची हुई थी। मेरे मन में अनायास ही सवाल पैदा हुआ, ये लोग अपने उद्योग में कहां तक खरे उतरेंगे।

गर्दन झुकेगी, पर

कृष्णा एवं गोदावरी के मध्यवर्ती दोआबे का यह प्रदेश वही था जहां औरंगजेब ने लगातार बीस बरस तक सिर पटका परन्तु वह इसे जीत न सका। महाराष्ट्र की राजधानी को कर्नाटक से जिंजी नामक स्थान पर ले जाकर बीस बरस तक स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए अखंड रूप से लड़नेवाले हटी मरहटों के ये वंशज भला कष्टों और यातनाओं के मुकाबले में कभी हार मान सकते हैं? औरंगजेब का अनुभव था कि 'जहां शत्रु रहते हैं, वहां उनका राज्य रहता है।' यही अनुभव स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए मृत्यु की कीमत चुकानेवाले, स्वदेश के लिए फकीरी को स्वीकार करने वाले लोगों का भी है। जुल्म और जबर्दस्ती के कारण गर्दन झुक भी जाय तो

भी उनके सम्मान-अभिमान में कभी झुकाव नहीं आयेगा। हथकड़ियों से हाथ जकड़े जा सकते हैं, पर आशावाद को कौन जकड़ सकता है? नागरिक स्वातन्त्र्य की अवस्था यह है कि उसे जितना ही कुचलने की कोशिश करो उतना ही उसके प्रति विद्यमान् आकर्षण की तीव्रता बढ़ जाती है। खुले आम चौराहों पर चलनेवाले आन्दोलन जुल्म जबर्दस्ती के कारण तहखानों तथा अरण्यवनों में पहुँच जाते हैं। 'भासमान' व्यक्ति 'भूमिगत' हो जाते हैं। वह व्यक्ति जिसकी चर्चा हर एक की जीभ पर रहती है, अज्ञात हो जाता है। सर्वत्र संचरण करने वाला व्यक्ति फरार समझा जाता है। वृक्ष बोलने लग जाते हैं। मनुष्यों का मौन अधिक सार्थक हो जाता है। एक चींटी जिस प्रकार दूसरी चींटी से मिलती है और किसी प्रकार का प्रस्ताव अथवा प्रस्तावना न करते हुए, चुपचाप चीनी कहां है यह बताती जाती है, उसी प्रकार यह स्वातन्त्र्य की 'सीटी' अरण्यवनों में 'सुनने वालों' को ही सुनाई देती है, संदेश देती है। संदेश पहुँचाने का काम जड़ और चेतन दोनों ही करने लगते हैं। एतद्विषयक जो बातें अनेक राष्ट्रों के इतिहास में हमने पढ़ी थीं, वे ही आज साक्षात रूप से इन आंखों के सामने से गुज़र रही थीं और मन में यह विश्वास भी दृढ़ होता जाता था कि इतिहास का नियम कभी असत्य सिद्ध नहीं होगा।

इसी बीच मेरे पथ-प्रदर्शक ने मुझे आज्ञा दी—"अब रामजी बुवा के पास जाना चाहिए।"

मैंने पूछा—"कौन-से रामजी बुवा?"

उसने बताया कि रामजी बुवा उसके गांव के एक बढ़ई हैं। दो बरस पहले उनका इकलौता लड़का 'ग्यानू' मोर्चे में गोली का शिकार बनकर मर गया था, अतः उनसे मुझको अवश्य मिलना चाहिये। मैंने उसकी यह प्रार्थना तत्काल मंजूर की और पांच-दस मिनटों में ही हम

उनके एक बड़े से मकान में पहुँच गये। जेल से छूटकर बाहर आते समय जिस प्रकार के संदेशवाहन का भार मुझ पर था यह वस्तु और यह प्रसंग उससे भिन्न था। वृद्धावस्था में अपने इकलौते पुत्र से हाथ धो बैठे हुए एक व्यक्ति से मुझे मिलना था। मैं विचार करने लगा कि उससे क्या कहा जाय ? किस भाषा में, किन शब्दों में उसको ढाढ़स बंधाया जाय इसका निश्चय ही नहीं हो पा रहा था। जिसने अपने यौवनकाल में अनेक व्यक्तियों के घर खड़े किये होंगे, उसी का घर आज दैव ने ढहा दिया था। यह विश्वकर्मा (बढ़ई को विश्वकर्मा कहते हैं) आज पूर्णतया परास्त हो चुका था। जिस प्रकार बसूले से छीली-तराशी गई ऊबड़-खाबड़ लकड़ी को उमेदी गई यातना के परिमार्जन के लिए बारीक रंदे से चिकना बनाकर सान्त्वना दी जाती है, उसी प्रकार दैव ने भी उस बढ़ई के बारे में किया था; अर्थात् गोली-कांड में लड़के की मृत्यु हो जाने के पश्चात् एक-दो महीने में ही उसका पोता पैदा हो गया था।

ग्यानू बच्चा बन गया है

बरामदे में एक कमली बिछाकर उस पर वह वृद्ध सज्जन बैठे हुए थे। पास में दो-तीन और सज्जन बैठे हुए थे। मैंने जाते ही उन्हें अभिवादन किया और मेरे मना करने पर भी उस वृद्ध ने मेरे पैरों पर अपना सिर रख दिया। क्या बोलें, यह सूझता ही नहीं था। सारा वक्तृत्व पक्षाघात-पीड़ित व्यक्ति के अंगों की भांति निष्क्रिय हो गया था। प्रतिभा कुंठित हो गई थी। संकटकाल में जिस प्रकार मित्र साथ छोड़ देते हैं उसी प्रकार शब्द भी जिह्वा का साथ छोड़ गये। जैसे तैसे प्रयत्न करते हुए मैंने कहा—"ग्यानू बड़ा खुशनसीब था, इस प्रकार की मृत्यु तो मागने से भी नहीं मिलती।" मेरा वाक्य अभी समाप्त भी नहीं हो पाया था कि पास ही में बैठे हुए दो बरस के अपने पोते को और नज़दीक

लेते हुए वह वृद्ध बोला — "नहीं, नहीं, ग्यानू मरा नहीं। ग्यानू बच्चा बन गया है।" और ऐसा कहकर उसने उस छोटे-से अर्भक को मेरे पैरों पर रख दिया। मैं और भी विभ्रम में पड़ गया। "ग्यानू मरा नहीं, ग्यानू बच्चा बन गया है।" इसका सम्पूर्ण अर्थ जब मेरे ध्यान में आया तब मुझे अत्यन्त कृतार्थता अनुभव हुई। जो आत्मज्ञान प्रवचन से उपलब्ध नहीं होता, केवल बहुश्रुत होने से उपलब्ध नहीं होता, वह इस वृद्ध को कहां से प्राप्त हो गया? ग्यानू मरा नहीं, वह अमर है यह तत्त्वज्ञान इस निरक्षर ने कैसे जान लिया? आत्मा का अमरत्व मानवीय जीवन-धारा की अखंडता में है यह इसने कैसे पहचाना? 'आत्मा वै पुत्र नामासि' इस वेदांतगत रहस्य का इसे कैसे पता चला? दुःखप्रद घटनाओं का उत्साहवर्द्धक अर्थ निकालकर उत्कृष्ट स्वरूप की मनःशांति कर लेने की कला इसे कैसे हस्तगत हुई? 'ग्यानू बच्चा बन गया है' इस वाक्य द्वारा आशावादिता का एवं प्रयत्नों की अमरता का एतादृश नितांत सुन्दर रीति से प्रदर्शन किस साहित्यिक ने उसे सिखाया?

पौरस्त्य संस्कृति की मूर्ति

स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न—किंवा किसी भी श्रेष्ठ आदर्श को प्राप्त करने के लिए किया गया प्रयत्न—अनाथ अवस्था में नहीं मरता, नहीं नष्ट होता, यही उसके कहने का अभिप्राय था न? एक ज्योति से दूसरी ज्योति के प्रज्ज्वलित हो जाने पर दोनों के प्रकाश में अन्तर कैसे रहेगा? इसके विपरीत 'अधिक प्रज्ज्वलन का परिणाम अधिक प्रकाश होता है, यही उसका अर्थ है। नई पीढ़ी का अभिप्राय है प्रयत्नों के लिए अधिक काल, अधिक क्षेत्र तथा अधिक आशा। जिसके लिए मृत्यु एक क्षुद्र-सी वस्तु है, एक क्षुद्र-सी घटना है, जिसने मृत्यु को एक अनित्य अनुभूति मानकर नित्य एवं निरन्तर रहने वाली अनुभूति को जीवन माना

है, जिसने जीवन का अर्थ माना है आशा, वही सच्चा समदर्शी नहीं क्या ? स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है, स्थितप्रज्ञ क्या खाता है, कैसे रहता है, कैसे बोलता है इसका नित्य विवेचन हमारे में से अनेक लोग अहर्निश किया करते हैं। परन्तु वैसा (स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति मुझे आज साक्षात् दिखाई दिया और मैं तो कहता हूँ, जिस समाज में इस प्रकार का एक भी व्यक्ति मौजूद है वह समाज धन्य है, उसका भविष्य उज्ज्वल है। उपनिषदों की सच्ची संस्कृति मेरे समक्ष सदेह रूप में उपस्थित थी। पौरस्त्य संस्कृति का यह एक मूर्त्तिमान दृश्य था। यह तथा ऐसे अनन्त विचार मेरे मन में उठ रहे थे। इसी बीच मेरे उस तरुण कार्यकर्ता ने सभा का समय हो जाने की सूचना देते हुए मुझे उस दिव्य स्वप्नावस्था से जगाया। रामजी बुवा के पैरों पर अक्षरशः अपना मस्तक रखकर मैं वहां से बाहर निकला। मेरे मस्तिष्क में "ग्यानू मरा नहीं, वह बच्चा बन गया है" यह वाक्य लगातार चक्कर काट रहा था और आज जब मैं यह लिख रहा हूँ मेरी पुनः यही अवस्था हो रही है और वैसा ही आनन्द अनुभव हो रहा है जैसा कि उसके प्रथम बार श्रवण करते समय हुआ था। अपने उस आनन्द का एक अंश भी यदि मैं अपने पाठकों तक पहुँचा सका तो मैं समझूंगा कि बड़ी भारी कमाई मैंने कर ली।



डिकसाल की भूल में ?

'न सेकण्ड क्लास का टिकट है और न इंटर का।' टिकट बाबू के इन शब्दों को सुनते ही मेरे मुँह से अनायास निकल गया—"बेचारे लोग निराश हो जायंगे।" टिकट बाबू ने यह सुन लिया। क्या हुआ कौन जाने, उसने मुझे फिर खिड़की के समीप बुलाया और कहा, "माफ़ कीजिए, इंटर का एकाध टिकट होगा, ऐसा प्रतीत होता है। पांच-छः मिनट में मैं आपको बताऊंगा।" मैं पूना स्टेशन पर सेकंड क्लास के टिकटघर की खिड़की के सामने, कंधे पर नई फैशन की झोली डाले, परीक्षाफल की बाट जोहनेवाले विद्यार्थी की भांति खड़ा रहा।

अकलूज में एक नई पद्धति की शादी होने जा रही थी, मुझे उसका 'अध्यक्ष' बनने के लिए जाना था। रात की मेल ही सबसे अधिक सुविधा वाली गाड़ी थी। मेल में डिकसाल का टिकट नहीं मिल सकता था अतः सौ मील आगे के कुर्डुवाडी नामक जंकशन का टिकट लेने की कोशिश करना ज़रूरी होगया। समाज में विद्यमान विषमता की भांति यात्रा का यह श्रेणी-विभाजन एवं विषमता तो सम्प्रति और भी अधिक असह्य हो उठी है।

टिकट बाबू की कहानी

जेल से छूटे हुए अनेक कार्यकर्त्ता ग्रामसुधार कार्य की इच्छा से गांवों में जाकर बस गये हैं। अनेक स्थानों पर उन्होंने नई पद्धति की शादियां रचाना भी शुरू कर दिया है। ऐसी ही एक शादी का पुरोहितपन एक भी मंत्र और विधि न जाननेवाले वेदोनारायण के पल्ले आ पड़ा था, और इसी कार्य के लिए टिकट लेने की यह उछल-कूद हो रही थी। उन पांच मिनटों में न जाने कितने प्रकार के विचार मस्तिष्क में होकर गुज़र गये। उसी समय शोलापुर के कुछ लोग टिकट की आशा से वहाँ आ पहुंचे और उन्होंने मुझे नाम लेकर पुकारा। नामोच्चारण से स्वभावतः टिकट बाबू पर कुछ प्रभाव पड़ा और उसने मुझे तत्काल अपने पास बुलाया तथा इंटर का टिकट पकड़ा दिया।

उसकी इस भद्रता के लिये मुझे थोड़ी कीमत भी चुकानी पड़ी। दस मिनट तक वह अपनी नौकरी का सारा कच्चा चिट्ठा सुनाता रहा। २३ वर्ष तक वह अनेक ए० टी० एस० और डी० टी० एस० (जिसका अर्थ मुझे बिलकुल नहीं मालूम) के साथ किस प्रकार लड़ा, यह उसने बताया। उसका भाई एम० ए० होकर भी बेकार है, और उसने नॉन-मैट्रिक होते हुए भी पूना के एक उपनगर में बंगला बनवाया है। उसके लड़कों ने सन् '४२ के आंदोलन में किस प्रकार उसकी बात नहीं मानी। उसकी कहानी में ये बातें सम्मिलित थीं। मुझे भय लगने लगा कि अब वह अपना महाभारत पूरा किये बिना चैन न लेगा। मैं इससे अपना पिंड छुड़ाने का उपाय सोचने लगा। इतने में रणांगण पर जानेवाले सैनिकों की हलचल शुरू हुई और उसका फ़ायदा उठाकर मैं वहां से खिसक गया। टिकट मिल जाय और वह भी एक भी पैसा अधिक खर्च किये बिना, तो इस आनन्द को पुत्रजन्मोत्सव के आनन्द के समान ही समझना चाहिए।

आखिरी गाड़ी भी आगई

गाड़ी के आने में अभी डेढ़ घण्टे की देर थी। टिकटघर के समीप दिखाई देने वाली सारी आकृतियां प्लेटफार्म पर दीखने लगीं। जादूगर की टोपी में से जिस प्रकार चीज़ बाहर निकल आती है, उसी प्रकार बाक़ी न रहने पर भी अनेक व्यक्तियों को टिकट मिल गये, यह देखकर थोड़ा आनन्द हुआ और थोड़ी चिन्ता भी हुई। आखिर ये सारे लोग डिब्बे में भीड़ मचाये बिना न रहेंगे।

डेढ़ घंटे इन्तज़ार करने के पश्चात् आख़िर गाड़ी भी आ ही पहुँची। कुली ने मुझ से कहा, 'आप डिब्बे के भीतर चले जाइये, मैं आपका बक्स आपको पकड़ा दूँगा।' ज्योंही गाड़ी थमी, उतरने वालों और चढ़ने वालों के बीच द्वन्द्व शुरू हो गया। जो काम तरीके से किया जाने पर दो मिनटों में ख़त्म हो गया होता, वह दस मिनट में भी नहीं हो पाया। रावण के दरबार में अंगद ने जिस प्रकार गवाक्ष के द्वार से प्रवेश किया था, मैं भी उसी प्रकार डिब्बे में प्रविष्ट होकर बैठे हुए यात्रियों की जांघों पर धम्म से गिर पड़ा। मेरे इस पराक्रम से आस-पास के चार-पांच आदमियों को तकलीफ़ तो ज़रूर ही हुई होगी। यह भी सम्भव था कि वे मुझ पर टूट पड़ते, किन्तु डिब्बे की सारी ही खिड़कियाँ प्रवेश-द्वार बन गई थीं, और फिर यह आजकल रोज़मर्रा की बात हो गई है, अतः किसी ने उसे बहुत ज़्यादा बुरा महसूस नहीं किया। सोडावाटर के बक्से में जिस तरह सोडावाटर की बोतल ठूंसकर भर दी जाती हैं, उसी प्रकार ३६ आदमियों के उस छोटे से डिब्बे में ७० से भी ज़्यादा आदमी हो गये थे। जो अन्दर आ गये थे वे अन्दर वालों से एका करके नये आने वालों के साथ लड़-झगड़ रहे थे। गाड़ी के हिलते ही तीर की तरह एक तरुण व्यापारी ने डिब्बे में प्रवेश किया। उसके साथ लड़ा जाय या उसकी दक्षता की

तारीफ़ की जाय, इसका अभी फैसला भी नहीं हो पाया था कि गाड़ी का वेग बढ़ गया और अन्दर की जनगंगा शांत हो गई।

डिब्बे में युद्ध

तथापि इस क्षण भर के प्रशांत वातावरण के पीछे एक उथल-पुथल भी छिपी हुई थी। बर्थों पर कुछ व्यक्ति सोये पड़े थे। बैंचों के मध्य में तथा दरवाजे के सामने सामान अस्तव्यस्त रूप में पड़ा हुआ था। इधर-उधर भी कुछ लोग अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े सो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा मालूम होता था कि कोई ज़ोर का भूचाल आया है जिसके कारण सब कुछ अस्तव्यस्त हो गया है।

कुछ लोग टेढ़े-मेढ़े बैठे हुए थे, कुछ खड़े हुए थे। कुछ लोगों को खड़े रहने के लिए भी जगह नहीं थी। उनमें से बहुतेरे सैनिक थे। एक ने ऊपर सोये हुए एक सज्जन को हिलाकर बैठने के लिए जगह देने को कहा। उक्त सज्जन मद्रासी थे। उन्होंने उत्तर दिया, यह जगह बैठने के लिए नहीं, सोने के लिए है। सैनिक ने डिब्बे को युद्धक्षेत्र का रूप देकर ऊपर के दुश्मन को तत्काल नीचे खींच लिया। मद्रासी यात्री ने डिब्बे में मौजूद टिकट-चैकर से चिल्लाकर कहा कि इस सिपाही ने मुझ पर हाथ उठाया है, मेरे साथ मारपीट की है।

'आपकी आकृति से तो ऐसा नहीं मालूम होता।' चैकर ने मुंह बना कर उत्तर दिया।

डिब्बे में बैठे हुए सारे यात्री ठहाका मारकर हँस उठे। सिपाही ने उस सरकारी क्लर्क को धता बताकर आखिर अपने लिए जगह बना ही ली।

मैं अभी तक व्यास महर्षि के समान दोनों हाथ ऊपर किये खड़ा ही था। मेरी बात कोई सुनेगा, ऐसी उम्मीद भी नहीं थी। तथापि मुझे उस स्थिति

में देखने वाले अनेक थे, और प्रसिद्धि तथा नेतागिरी का जो फ़ायदा होना चाहिए सो हुआ।

रहा मारवाड़ी ही !

पूना में मेरे साथ कांग्रेस में काम करने वाले एक सज्जन गाड़ी में बैठे हुए थे। उनका रोजगार व्यापार था। अतः उनका विश्वास था कि स्वराज्य की अपेक्षा सम्पत्ति श्रेष्ठ है। डिब्बे के एक कोने में मुझे पहचानने वाले एक और सज्जन बैठे हुए थे। उन्होंने नाम लेकर मुझे पुकारा तथा अधिकार की हुई खूब खुली जगह मुझे बैठने के लिए दे दी। हम तीनों के बैठते ही युद्ध तथा आन्दोलन सम्बन्धी चर्चायें छिड़ गईं।

इसी बीच डिब्बे में बैठे हुए एक मारवाड़ी सज्जन की 'रोमांच-कथा' सुनने का मौका हाथ लगा। उसके पास टिकट नहीं था, इस कारण टिकट चैकर कुडूंवाडी तक का दुगना किराया मांग रहा था। मारवाड़ी सज्जन का कहना था कि 'हम दो भाई, एक बम्बइ को तथा दूसरा कुडूं-वाडी को जाने के इरादे से चले। हड़बड़ी में टिकट बदल गये। मेरे पास तो बम्बई का टिकट आ गया और मेरे भाई के पास कुडूंवाड़ी का टिकट चला गया।' टिकट उसने लिया था। बम्बई का टिकट उसके कथन की सत्यता को प्रमाणित कर रहा था। उसके पास पूरे पैसे नहीं थे। जितने थे उतने देने के लिए वह तैयार था। उसका जाना बहुत ज़रूरी था। उसे धमकी दी गई कि दौंड तक के पूरे पैसे न दिये तो पुलिस के हाथ में उसे सौंप दिया जायगा। मारवाड़ी सज्जन ने स्थिति को पहचानते हुए कहा कि कुडूंवाड़ी पहुंचते ही मैं पैसे दे दूंगा। मैंने बीच-बचाव करने का यत्न किया। पर न्याय और क़ानून के अन्तर का ज्ञान टिकट-चैकर की बुद्धि से परे की बात थी। और मेरे मध्यस्थ बनने का इनाम मारवाड़ी सज्जन ने कम पड़ने वाले पैसों को मुझी से मांग कर दिया।

मैंने तत्काल वे पैसे दे दिये। उन सज्जन का नाम और पता भी मैंने नहीं पूछा। जब डिकसाल स्टेशन पर मैं उतरा, उस समय भी नहीं पूछा। मैंने सोचा, जिसको देना होगा वह तो देगा ही, जिसे नहीं देना वह नाम और पता पूछने पर भी नहीं देगा। 'अपने पास की सम्पत्ति तो एक धरोहरमात्र है।' महात्मा गांधी के इस सिद्धांत पर आचरण करने का अवसर मिलने के कारण मैं कदाचित् उसी के आनन्द में निमग्न था।

यह बताने से मुझे आनन्द होता है कि उक्त घटना के तीन सप्ताह बाद वह रकम मनीआर्डर द्वारा मुझे मिल गई। तथापि घर की कोषाध्यक्ष इस घटना को सुनकर मेरे इस कृत्य को 'भोलापन' बताये बगैर न रह सकी।

म्युनिसिपैलिटी की 'सुव्यवस्था'

डिकसाल स्टेशन पर एक ही दिया था और वह भी प्रकाश पहुंचाने के स्थान पर चारों ओर फैले अन्धकार को ही अधिक स्पष्ट कर रहा था। प्लेटफार्म पर इन्तज़ाम के वास्ते भेजा हुआ स्वयंसेवक उपस्थित था। रात के ३ बज गये थे। अकलूज की मोटर के छूटने में अभी तीन घण्टे शेष थे। स्टेशन मास्टर से पूछने पर पता चला कि दूसरे दर्जे के मुसाफिरों के ठहरने के लिए कोई इन्तजाम नहीं है। तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने में अंधेरे में अनेक लोग सोये पड़े थे।

स्टेशन मास्टर ने आग्रहपूर्वक निवेदन किया कि स्टेशन की बैंच पर ही मैं बची-खुची रात गुजारूं पर स्वयंसेवक ने बताया कि मोटर स्टैंड के समीप इन्तज़ाम अच्छा है अतएव हम दोनों स्टेशन की सीमा से बाहर स्टैंड के पास आये।

चांदनी में मन की दौड़

कड़ाके की सर्दी थी। आकाश में शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा सर्दी को

और भी बढ़ा रहा था। आस-पास की फौजी लारियां हाथी के समान लग रही थीं। रास्ते की बगल में जो खुली जगह थी, वही मोटर स्टैंड था। स्वयंसेवक इस भरोसे में था कि बची-खुची रात मोटर में ही आराम से बिताई जा सकेगी, पर हमारे साथ के अन्य अनेक भी इसी भरोसे पर मोटर की ओर आ रहे थे। ऐसी हालत में मैंने यही निश्चय किया कि मोटर में बैठने की अपेक्षा बाहर चांदनी में ही रात बिताई जाय। किम्बहुना, यह कहना अधिक उचित होगा कि, मुझे वैसा निश्चय करने के लिए विवश होना पड़ा।

कुछ ही फासले पर एक प्रख्यात पूंजीपति का गेस्ट-हाउस भी था और वहां मैं गया होता तो ठहरने का सुरक्षित इन्तज़ाम भी हो गया होता, पर ऐसी सुविधा के सामने अभिमान झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। फलतः बची-खुची रात अक्षरशः धूल में बितानी पड़ी।

मेरे सहयात्रियों ने धूल में अपनी कमलियां बिछाना शुरू कर दिया और मुझे क्या करना चाहिए, इसका मैं अभी विचार ही कर रहा था। नींद बुरी तरह सता रही थी; पर धूल में बिछौना डालने के लिए मन तैयार नहीं हो रहा था। समय-असमय, स्वर-अस्वर में मातृभूमि के गीत गाने वाला मैं, आज अपनी मातृ-भूमि के अंक में लेटने के लिए तैयार न था!

मैं खड़ा-खड़ा सोचने लगा, मेरे पड़ौस में कमली पर लेटते ही नींद—गहरी नींद—का आस्वादन करने वाले लोगों के मन में भी क्या मेरे जैसे ही विचार आये थे! और यदि नहीं आये तो क्यों नहीं आये! जिनके श्रम पर सारा जगत पल रहा है, उनके हिस्से में सुख का एक छोटा-सा अंश भी न आये! यात्रा की सारी सुख-सुविधाओं के साधन कतिपय विनिश्चित (ख़ास) लोगों ही के लिए हैं क्या! और इसी के साथ, इतनी तीव्र विषमता होते हुए भी उसकी ज्ञानानुभूति बहुजनसमाज में क्यों नहीं

होती ? एक आदमी मर-मरकर मेहनत करे और दूसरा उसका आनन्द लूटे, यह कहां का न्याय है ? जिस समाज-व्यवस्था में इस अन्याय को स्थान है, वह क्यों बनी रहे ? मेरी आंखों के सामने उन खेतिहरों के स्मृति-चित्र आ खड़े हुए जो कहा करते थे, "दादा, हमारे दैव ही में कष्ट लिखा है।" सामाजिक अन्याय को दैव का हवाला देकर सम्पत्ति-शाली और संचयवादी वर्ग ने अपना काम साधने का यत्न किया है।

इस प्रकार धूल में बैठे हुए मेरी विचार-मालिका चालू थी, इसी समय पास के होटल से आवाज़ आई, 'चाय किसे चाहिए ?' और मैं उस स्थान पर चला गया।

इस प्रदेश में चीनी के कारख़ाने हैं, पर सामने आई गुड़ की ही चाय ! ठीक है जहाँ चीज़ उगती या बनती है वहाँ बिकती नहीं। इस सिद्धाँत की प्रतीति एक अन्य ही रूप में हुई। ६ बज गये थे और मोटर के चलने का समय भी हो आया था, अतः हम मोटर में जा बैठे। मोटर एजेंट ने अपने रोज़ के नियम से अनाप-शनाप बातें बोलते हुए भेड़ों की तरह यात्रियों को ठूंसना शुरू किया। बेचारे ग़रीब यात्री चुपचाप सुनते न तो क्या करते, उन्हें अपने स्थानों पर जाने की जल्दी जो थी ! पर मुझसे उसकी यह बकवास न सुनी गई। मैंने उस एजेंट से कह दिया कि यदि तूने अब और ज़्यादा यात्री इसमें बैठाये तो मैं मोटर को यहां से नहीं हिलने दूँगा।

उसने जवाब दिया, 'ऐसे खादी टोपी वाले मैंने बहुत देखे हैं।'

'पर मुझ जैसा तुझे नहीं दीखा होगा। एक तो सारी रात तूने इन लोगों को धूल में बैठाये रखा, उनके लिए कोई इंतज़ाम नहीं किया और अब कायदे और कानून के खिलाफ काम करता है; मैं यह सब नहीं चलने दूँगा।'

मेरे ऐसा कहते ही यात्रियों का स्वाभिमान जाग उठा और वे मेरा पक्ष लेकर उसका विरोध करने लगे। अन्त में मोटर ड्राइवर ने जब अन्दर की बत्ती जलाकर मुझे ग़ौर से देखा तब चुपके से एजेंट के कान में जाकर कुछ कहा और मोटर चालू करदी।

धूल में सुवर्ण रज

अंधेरा शनैः-शनैः नास्तिप्रायः हो रहा था; सूर्य शनैः-शनैः ऊपर आ रहा था। उसे देखकर मेरे मन में विचार आया, यदि इसी तरह जनता के अज्ञानरूपी अंधेरे का नाश हो जाय तो उन्नति का सूर्योदय हुए बिना नहीं रहेगा। धूल में यदि तीन घंटे तक मैं न बैठा होता, स्टेशन मास्टर के कहने के मुताबिक स्टेशन की बैंच पर सोकर मैंने वह रात गुज़ारी होती, तो जो सुन्दर विचार मेरे मस्तिष्क में आये वे न आये होते। इस धूल में सचमुच ही मुझे स्वर्ण-रज की प्राप्ति हुई और यह मातृभूमि सचमुच ही स्वर्ण की खान है।

क्या यही अवंतिकापुरी है ?

ठीक २४ वर्ष के पश्चात् मैं इन्दौर को जा रहा था। दिल्ली और शिमले की ओर जाते समय अनेक बार रतलाम होकर जाने का मौका आता था, उस समय अनेक बार मन में आता था कि फिर से इंदौर और नीमच आदि स्थानों के दर्शन करके अपनी पुरानी स्मृतियों को जागरित करूं, पर वह सम्भव न हो पाता था। एक ओर इस बात का डर था कि दिल्ली में यदि ठीक समय पर नहीं पहुंचा तो हर्ज होगा, और दूसरी ओर इस बात का अभिमान था कि पूना में अपने सिवाय और दूसरा है ही कौन ?

पहिये के ऊपर बैठी हुई मक्खी को यह लगता है कि पहिया उसी के बल पर फिर रहा है। मेरा यह अभिमान भी इसी प्रकार का था। तथापि इतनी बात सही है कि १९२० के बाद अर्थात् हमारे ब्रह्मचारी संघ के आखिरी सभासद् की 'विकेट' पड़ने के पश्चात् मैं इस प्रदेश में नहीं गया। यों हिन्दुस्तान मेरा मातृदेश है, तथापि मेरा प्रत्यक्ष जन्म मेवाड़ और मालवा की सीमा बनी हुई चंबल नद के तट पर मल्हारगढ़ नामक स्थान

पर हुआ था। अतः इस प्रदेश के साथ मेरी ममता है। इस प्रदेश के प्रति विद्यमान आत्मीयता भले ही किसी की दृष्टि में संकुचित हो, पर मेरे लिए इसकी सार्थकता है।

मालवा भारतवर्ष का धान्यागार समझा जाता है और मेवाड़ वीरप्रसू भूमि है। ऐसे स्थान के प्रति भला आत्मीयता, ममता एवं गौरवानुभूति क्यों न हो! चंबल नदी के समीप एक बारी है और उस बारी में से होकर ही मेवाड़ में जाना होता है। इस प्रदेश में "दक्खन की कमाई और हरकिया में गमाई" ऐसी कहावत मशहूर है। इस हरकिया की बारी में से दक्षिण में जाकर खूब पैसा कमाने वाले मारवाड़ी मारवाड़ की ओर लौटा करते थे और उस समय अधिकांश मारवाड़ी लुटेरों के शिकार बन जाते थे। वह ज़माना अब बदल गया है। तथापि यह ऐतिहासिक परंपरा सम्पूर्णतया नष्ट हो गई हो, ऐसा सरकारी रिपोर्ट पढ़ने से नहीं मालूम पड़ता।

हमारे पूने के (पुनाहरे) के संकेत !

इसी हरकिया की बारी से दो मील की दूरी पर विद्यमान मल्हारगढ़ नामक गांव में अस्मदादिक का (हमारा) जन्म हुआ था; अतः तद्देशीय लोक-कथाओं के विषय में अभिरुचि थी—आज भी वह विद्यमान है। मैंने उस प्रकार का कोई पराक्रम नहीं किया था। गब्बारों की वाड़ी के रहने वाले सारे जेबकतरे नहीं होते। उसी प्रकार पूना के सभी नागरिक नीति-विचक्षण नहीं होते। तथापि किसी स्थान के प्रति ममत्व, उसकी भलाई और बुराई दोनों ही बातों के बारे में रहे तो उसमें कौन बुराई है? यों तो दक्षिण की कमाई को बारी में लूटने के बजाय दक्षिण की ओर से मैं जो कमाई लेकर आया था वह मेरे बाल-मित्रों के लिए गौरव करने की ही वस्तु थी।

हां, मैं कोई एकदम सामान्य यात्री के रूप में नहीं जा रहा था। मध्य भारत विद्यार्थी-परिषद् के एक मनोनीत अध्यक्ष के रूप में जा रहा था और मैं दक्षिण से जो कमाई करके लाया था वह ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे लूटा जा सके। फिर वह कमाई भी लोगों के समझने पर थी। कोई चाहे तो उसे कमाई समझ सकता था। न चाहे तो नहीं। इसलिए उस कमाई के बारे में कोई विशेष आस्था अथवा आत्मीयता भी नहीं थी।

पूना से चलते समय मैंने अपनी जन्म-भूमि के दर्शन करने का निश्चय कर लिया था। गाड़ियों की असुविधाओं के कारण तथा टिकटों की अड़-चनों के कारण एक दिन पहिले ही मैं बम्बई से चल पड़ा था। रतलाम में एक दिन रहने के विचार से उतरा। मैं चाहता तो तत्काल इन्दौर जा सकता था। पर अध्यक्ष को निर्धारित समय से कुछ देरी करके ही पहुंचना चाहिए, ऐसा पुण्य पत्तनीय संकेत है और वह सदा ठीक ही बैठता है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास था। इसलिये मैं नहीं गया। और सच्ची बात तो यह है कि यदि मैं २४ घंटे पहले ही पहुंच गया होता तो परिषद् के संचालकों का रस-भंग हो गया होता और स्टेशन पर उन्हें मुझे ढूंढना पड़ता। अतः मैंने रतलाम स्टेशन पर ही ये २४ घंटे गुजारने की सोची। परिषद् के लिए जो भाषण लिखना था उसका सारांश मैंने सेकण्ड क्लास के वेटिंग रूम में बैठकर लिखा और बम्बई भेज दिया। बाकी समय कैसे गुजारा जाय, यह मैं सोचने लगा।

इस बीच एक फ़ौजी स्पेशलगाड़ी आई और पुलिस वालों ने हलके हाथों से प्लेटफ़ार्म पर ठहरे हुए यात्रियों को स्टेशन से बाहर खदेड़ना शुरू किया। हमेशा की आदत से लाचार होकर मैंने इस मामले में भी अपनी चोंच लड़ाई। स्टेशन-मास्टर तक जाने की नौबत आई। उसने पुलिस

वालों को पास बुलाया और उन्हें ताकीद की कि वे ज़रा अधिक सभ्यता से पेश आया करें।

'शारदा मंदिर' में प्रवेश

रेलगाड़ी का टाइम-टेबल देखने से पता चला कि हरकिया की बारी देखकर समय पर वापस आना सम्भव नहीं। अतः मैंने सोचा, चलो रतलाम गाँव में एक चक्कर मार आयें। कुछ ही फासले पर एक इमारत नजर आई, जिस पर 'महाराष्ट्र शारदा मंदिर' का बोर्ड लगा हुआ था। उस इमारत में उस वक्त कोई भी नहीं था। आस-पास भी कोई दिखाई नहीं दिया। गाँव में पहुंच कर कुछ आदमियों से मुलाकात की। देशी राज्यों में होने वाले अत्याचारों की कथा सुनी। महाराष्ट्र शारदा मंदिर के सम्बन्ध में मन में जो एक कौतूहल पैदा हो गया था, वह मुझे चैन नहीं लेने दे रहा था। अतः लौटते समय इस मंदिर के दरवाजे के सामने मैं एक घंटे तक खड़ा रहा। अन्त में मेरी यह साधना फल लाई। पास ही में रहने वाले एक दक्षिणी (महाराष्ट्रीय) छोटे बच्चे ने बताया कि बृहस्पति-वार को ६ बजे यहाँ भजन-कीर्तन होता है; आज गुरुवार है; अतः यदि आप आज आयें तो अच्छा होगा। बचा-खुचा नौ बजे तक का वक्त शहर में इधर-उधर फिरने में, दही-बड़े खाने में बिताया। नौ बजे फिर शारदा-मंदिर पहुंचा। लगभग १० बजे एक आदमी ने दरवाजा खोला। बिजली जलाई और उस प्रकाश में मैंने इस मंदिर का स्वरूप देखा। सब कहीं धूल! एक टूटी-फूटी अलमारी में कुछ पुस्तकें दिखाई दीं। एक ओर हारमोनियम, तबला और करताल पड़े दिखाई दिये। दो आदमी और आये। हम तीनों ने मिलकर मंदिर की सफाई की। मतलब, इधर की धूल उधर कर दी। दरियाँ आदि बिछाईं। तीन और आदमी आये। प्रायः सब रेलवे में नौकर थे। मैंने अपना नाम तो नहीं बताया पर इतना बताया

कि मैं पूना की तरफ़ का हूं। एक ने अगल-बगल में धीमे से गांधी जी के बारे में सवाल किया दूसरे ने बहुत ही धीमी आवाज में पूना के कुछ व्यक्तियों के बारे में पूछा। उन व्यक्तियों में से एक मैं भी था। पर मैंने कुछ भी पता नहीं चलने दिया। भजन के कार्यक्रम के बारे में मैं उत्कंठित था। ११ बजे भजन शुरू हुआ। एक प्रौढ़ व्यक्ति ने एकदंता, वक्रतुंडा, बुद्धिच्या नायका, गाना—हाँ, उसे गाना ही कहना पड़ेगा—शुरू किया वह पहले बोलता और सब उसके पीछे बोलते। यही चलता रहा। दूसरा कोई भजन शुरू होगा ऐसा प्रतीत नहीं हुआ और इस सुरीले भजन को और अधिक देर तक सुनने के लिये आवश्यक धैर्य मुझमें बच नहीं रहा था। १२ बज गये थे। अतः अपना यह शारदा-मंदिर का अंक समाप्त करके मैं लौट आया। प्रतिदिन यह कार्यक्रम नहीं चलता, इस कारण शारदा अवश्य ही इन लोगों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती होगी। नींद में भी इस वक्रतुंड ने मुझे चैन नहीं लेने दी। गाड़ी से बाहर भी अहोरात्र जागरण करना पड़ा और उसका पूरा पुण्य भी मेरे हाथ नहीं लगा।

आखिरकार जाति पर ही आये

प्रभात होते ही इन्दौर की गाड़ी में जा बैठा। मेरे स्वागत के लिए आये हुए कुछ विद्यार्थी मित्र भी वहाँ मिले। हांडी में तैयार की हुई चाय पीते हुए, वास्तविक ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन देते हुए, इन्दौर की परिस्थिति की जानकारी प्राप्त करता जा रहा था। ठीक समय इन्दौर पहुँचा। तीन दिन का मुकाम रहा। वहां का अनुभव स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र आने ही वाला है; अतः यहां लिखने की आवश्यकता नहीं। इन्दौर में रहते समय उज्जयिनी के कार्य-कर्त्ताओं की ओर से भी आमंत्रण आया। फलस्वरूप मैं उज्जयिनी के लिए चल पड़ा। मेरे साथ कुछ विद्यार्थी कार्यकर्त्ता भी थे। ३० वर्षों के पश्चात् मैं उज्जयिनी की ओर

जा रहा था। पहले-पहल मैं अपने एक सम्बन्धी के साथ यहां आया था; उस समय मैं आठ या नौ बरस का रहा हूँगा। उस समय की याद सिर्फ कड़ाके के जाड़े की ही रह गई है। दूसरी बार जब मैं गया तब मैं १६ बरस का था; उन दिनों मैं कालेज में पढ़ता था। उस समय मेरे साथ एक सरकारी अफ़सर थे। उस दफ़ा स्टेशन पर उतरते ही बाहर के एक होटल में हम गये और खाने के इंतज़ाम के बारे में पूछा। होटल वाले ने हमारी वेषभूषा से पहचाना कि हम दक्षिणी हैं और हमारा 'आडनांव' (सरनेम) पूछा। वह बताने पर 'कोकणस्थ ब्राह्मण' कहकर थोड़ा पीछे की ओर। मेरे साथ के मेहमान का भी नाम पूछा और वे भी कोंकणस्थ ही हैं यह जानकर वह और भी विचलित हुआ। उसने हमें खाना तो खिलाया पर हमारी पत्तलें औरों से ज़रा दूर-दूर ही रखीं। मगर हमारे दिये पैसों को उसने अस्वीकार नहीं किया। किसे मालूम उसने हमसे पैसे भी ज़्यादा ही वसूल किये हों।

उत्तर हिन्दुस्तान में और विशेषतः चित्तौड़-भेलसा के भाग में दक्षिणी लोगों से वहां वाले बहुत चिढ़ते हैं। मराठों ने राजपूतों पर बड़ा अत्याचार किया ऐसा कहते हैं। 'हिन्दुस्तान में तीन कसाई, पिस्सु, खटमल और दक्खिनी भाई' वहां की यह प्रचलित कहावत कदाचित इसी बात की साक्षी है। तथापि दक्षिणी मनुष्य दक्षिणी मनुष्य का और वह भी परदेश में इस प्रकार उपमर्द करे, यह थोड़ा खेदजनक है। उस उम्र में मैं यह समझ नहीं पाया कि ऐसा क्यों होता है! आज भी यह क्षुद्र-बुद्धि कम नहीं हो पायी है। इतनी शिक्षा और इतनी प्रगति के पश्चात् भी यह भाव कम नहीं हुआ, क्यों नहीं हुआ यह समझ में नहीं आता।

दान के दिन लद गये

ऐसा बताते हैं कि उज्जयिनी के वास्ते राजपूतों में तथा बाजीराव

प्रथम में घमासान लड़ाई हुई। चिप्रा नदी, जिसके किनारे उज्जैन बसा हुआ है, खून से लाल हो गई। हिन्दू-हिन्दू में चलने वाली इस लड़ाई के ख़त्म होने के आसार नज़र नहीं आते थे। राजपूत लोग कहते थे 'हम रणांगण में मर मिटेंगे पर पीछे हटेंगे नहीं'। मराठे लोग कहते थे, 'अपना मातृ देश छोड़कर हम इतने दूर आये हैं सो अपयश (असफलता) प्राप्त करने के लिए नहीं; प्रत्युत जीतने के लिए आये हैं।' दोनों दल कहते थे 'या जीतेंगे या रणांगण में ही खत्म हो जायगे।' अन्त में एक चतुर ब्राह्मण ने राजपूत राजा से कहा कि, 'तुम यदि उज्जयिनी दान में दे दो तो यह दक्षिणी ब्राह्मण उसे लेने के लिए तैयार हो जायगा।' और उस ब्राह्मण ने बाजीराव से भी पूछा कि 'आपको लड़कर ही उज्जयिनी को लेना है ऐसी तो कोई बात नहीं है न ? यदि उज्जयिनी आपको दान में मिल जाय तो !' इस पर बाजीराव ने कहा, "दान लेना तो हमारा प्रथम धर्म है।" इस पर चिप्रा में खड़े होकर पानी की अंजलि बाजीराव के हाथ पर डालकर राजपूत राजा ने यह सिद्ध कर दिया कि शौर्य पर औदार्य द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। और बाजीराव ने यह सिद्ध करके कि 'धर्म वस्तुतः व्यवहार है' अपने को 'साधनानामनेकता' इस तत्व का आद्य प्रतिपादिक सिद्ध किया। यह पुरातन राजकारण (राजनीति) आज के जगत् में कितना दुर्लभ हो गया है ! आज भूली-भटकी बकरियों को भी कोई खंडोबा (मराठों का देव) पर बलि चढ़ाने के लिए तैयार नहीं, तब हाथ में आई हुई सत्ता किंवा सम्पत्ति को दान में दे डालने की बात तो दूर रही।

वैद्यराज और भाजी वाली

उज्जयिनी शहर मराठों के हाथ में किस प्रकार आया इसका उपरि-वर्णित इतिहास मैं अपने सहयात्री विद्यार्थी कार्यकर्त्ताओं को बता रहा था,

इस बीच हमारी रेलगाड़ी छिप्रा स्टेशन के समीप आयी। जिस छिप्रा नदी का वर्णन कालिदास ने अपने काव्य में किया है, उस भाग्यशालिनी नदी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करके बड़ी प्रसन्नता हुई। छिप्रा की तरंगों का सहवास प्राप्त करके आने वाला 'अनिल' सर्दी के दिन होने के कारण आनन्द प्रदान करने के स्थान पर थोड़ा त्रास देने वाला ही सिद्ध हुआ। थोड़ी ही देर में हमारी गाड़ी उज्जैन स्टेशन में प्रविष्ट हुई। कांग्रेस तथा महात्मा गां ी के जयकारों से हमारा स्वागत हुआ। न तो किसी ने हमारा नाम पूछा न कोई बिदक कर पीछे को ही हटा। सारे स्टेशन पर खादी टोपी वालों का अपार समुदाय एकत्र था। फूलों के एवं सूत के बने हारों की गणना करने की 'सावरकरी' आदत नहीं थी, अतः मैंने उन्हें गिना नहीं। तथापि नेतागिरी का यह बोझ कुछ कम भारी नहीं था। मेरी हिन्दी में बातचीत को सुनकर अनेक को आनन्द हुआ और कुछ अचरज भी हुआ! कालिदास की इस नगरी में संस्कृत भले ही चालू न हो, तो भी संस्कृतमय हिन्दी यहां का चालू सिक्का है। निःसंशय यह ऊपर के दर्जे के लोगों में ही है। ऐसी हिन्दी सब्जीमंडी की भाजी वाली के साथ बातचीत करनी हो तो किस उपयोग में आयेगी!

ऐसा कहते हैं कि पूना के एक प्रख्यात वैद्यराज कुछ वर्ष पूर्व उज्जयिनी में आये थे, उन्होंने एक जगह भाजी की ओर अङ्गुली का संकेत करते हुए एक कुंजड़िन से पूछा, "इस वस्तु जात का क्या मूल्य है?" पर उस कुंजड़िन को इस वाक्य का अर्थ ही अवगत नहीं हुआ। यह देखकर वैद्यराज को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। 'बाधति बाधते' की बातें सुनने वाले शास्त्री बाबा की कल्पना कदाचित् ऐसी रही हो कि इस अवन्तिकापुरी में सामान्य ललनाएं भी अत्यधिक संस्कृत-पटु होती हैं।

क्या यही उज्जैन है ?

दो दिन के मुकाम में संवत्सरकर्ता विक्रमादित्य की राजधानी में अनेक दृश्य देखे और अनेक अनुभव प्राप्त किये। भर्तृहरि को 'शतकत्रय' लिखने की प्रेरणा करने वाले इस नगर में आज ऐसा कुछ भी नहीं रह गया था, जिससे किसी को कोई प्रेरणा मिल सके। कहीं भी नवरत्न सभा दृष्टिगत नहीं हुई। इसके विपरीत सर्वत्र 'शांभवी' के ही अड्डे दिखाई दिये। कालिदास के नाम से शालागृह तथा विद्यालयों के दीखने के स्थान पर उपाहार-गृह और नापित-गृह ही देखने का प्रसंग आया। पूना में भी शिवाजी, लोकमान्य, गांधी आदि के नाम ऐसी ही दूकानों से संलग्न नज़र आते हैं न ! कदाचित् लोकतंत्र और समताभाव का यह प्रमाण होगा। इतिहास में अमरपद प्राप्त करने वाली इन वस्तुओं को अमरपद क्यों प्राप्त हुआ इसका कारण पार्थिव दृष्टि से दिखाया जा सकने वाला बच नहीं रह गया है। इस नगर का देव 'श्री महाकाल' कितने ही शतकों से भूमिगत (अंडरग्राउन्ड) हो गया है। विक्रम सिर्फ संवत्सर ही में रह गया है, वैभव सिर्फ स्मृति में। 'आहे सांप्रत उज्जनी नगर तें राज्यांत शिद्यांचिया'। पर वहां भी वैभव अथवा आधुनिकता नहीं है।

चैतन्य लाभ

दो दिनों के मुकाम में भिन्न-भिन्न पांच-छः जगहों पर चर्चा और व्याख्यान हुए। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह सब हिन्दी ही में हुआ। कुछ अभिसीमित और कुछ सार्वजनिक भाषण हुए। पर इस सर्व मुकाम में अवन्तिका के प्राचीन वैभव और अद्यतन दैन्य के मध्य विद्यमान अन्तर के कारण कुछ खिन्नता की छाया ही की पृष्ठभूमिका रही। उस खिन्नता में विभिन्न कार्यकर्तागण अड़ौस-पड़ौस के संस्थानिकों (नरेशों) के अत्याचारों की कथाएं सुनाकर और वृद्धि ही करते जा रहे थे। वगैर

किसी पूछ-ताछ के लोगों की गिरफ्तारी, स्त्रियों पर अत्याचार, गरीबी, अविद्या, जनता का शोषण, पश्चात्पद भिल्ल लोगों के साथ अमानुष व्यवहार, आदि विषयक वृत्तान्त कथाओं को सुनते सुनते चित्त विषण्ण सा एवं शून्यप्राय सा हो उठता था। उसी प्रकार प्रचलित राजनीति में भाग लेने वाले कार्यकर्ताओं के बीच विद्यमान विरोध भी चित्त को दुःख देता था। कोई कामरेड आये और आकर शिकायत करने लगे कि ये कांग्रेस वाले पूंजीपतियों की वकालत करते हैं। कांग्रेस वाले इसका उत्तर यों देते कि ये कामरेड जिनकी तरफदारी कर रहे हैं वे सारे खेतिहर उनके पिताओं के देनदार हैं।

इसी चाल पर ये सारे कार्यकर्ता मौजूदा राजनीति को चला रहे थे। इस मौजूदा हालत से ऊपर उठकर यह देश फिर कब वैभव को प्राप्त करेगा और जगत् के लिए ललामभूत विद्वान कब पैदा होंगे! फिर कब संवत्सरकर्ता विक्रम का निर्माण होगा! पराक्रम को महाकाव्य द्वारा चिर-स्थायी करने वाला महाकवि कब आयगा? शौर्य्य एवं शृंगार इन दोनों रसों का सुन्दर सामंजस्य समाज में एवं काव्य में कब देखने को मिलेगा! इसी प्रकार के अनेक विचार देर तक मन में आते रहे। विदा लेने से पहले 'पुरुषस्य भाग्यम्' नामक लोक-कथा में न्याय देने वाले महाकाल के दर्शनों के लिए गया एवं श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से प्रार्थना की, "भूमि पर का अन्याय असह्य हो गया है। प्रकट हो और जो हमारा है वह हमें मिलने दे।" अन्तःकरण में मिलने की आशा अनुभव होने लगी। और इस प्रकार अवन्तिका का आना सार्थक होगया। सच्चा चैतन्य पाकर मैंने अवन्तिका से विदा ली।

कांग्रेस का राज्य आया तो—

उस दिन कोई कार्यक्रम नहीं था। न कहीं व्याख्यान, न कोई अनौपचारिक चर्चा—कोई भी तो बात ऐसी नहीं थी, जहां मेरे उपस्थित रहने से किसी की शोभा में कुछ वृद्धि हो। कहीं कोई उद्घाटन का कार्यक्रम नहीं था, या ऐसी भी बात नहीं थी कि किसी पत्र-प्रतिनिधि को ज़बर्दस्ती बुलाकर और चाय पिलाकर उसे मुलाकात दी जाय या किसी महत्वशाली व्यक्ति से मिला जाय।

उस दिन मेरे लिए कोई 'कार्य' नहीं था। इतना ही क्यों, किसी को साथ लेकर बोलपट (सिनेमा) देखने भी नहीं जाना था। छठे छमाहे कभी एकाध दफा बोलपट देखने का मौका मिलता था और जोड़ी से सिनेमा देखने का मौका तो समझिये कपिलाषष्ठी का योग ही था। तात्पर्य उस दिन की सांझ किस प्रकार गुजारी जाय इस बात पर मैं विचार कर रहा था। हर रोज के मेरे जोड़ीदार भी आज मेरा साथ देने वाले नहीं थे, एतावता, आज मैंने नये पुल पर जाने का निश्चय किया!

हमारा मारुति वीरों का है

घूमने के लिए हाथ में लाठी लेकर बाहर निकला। मस्तिष्क में अन्य कोई विचार नहीं था; अतः स्वभावतः मेरा ध्यान पैरों के नीचे के रास्ते की ओर गया। रास्ते में ब्रिटिश-नीति-विचक्षणों के निवेदन की अपेक्षा भी अधिक गड्ढे दिखाई दिये। दोनों किनारों पर घर थे। इसी आधार पर इस बीच के भाग को रास्ता कहने के लिए विवश होना पड़ता था। कालांतर से मनुष्य की कीर्ति पर आने वाले धब्बे जिस प्रकार धुलकर साफ हो जाते हैं, उसी प्रकार उस रास्ते का तारकोल भी नास्तिप्राय हो गया था। हमारे उस रास्ते पर चूंकि कोई 'माननीय' (आनरेबुल) नहीं रहता था, अतः रास्ते की मरम्मत का शुभ मुहूर्त हमारे लिए उदित नहीं हो पाया था। यह भी सुनने में आता था कि मिलने वाला तारकोल सभासदों के कारखानों ही में खत्म हो जाता था। संसार का यात्रापथ विकट है। इसका यदि प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो हमारी गलियों के रास्ते देख लीजिए। रास्ते की अवस्था के कारण सरल चलने वाली स्त्रियों के पैर भी कालिदास के शब्दों में 'विषभी भवन्ति' की अवस्था में आ जाते थे। और जब मैं गुज़र रहा था उस समय 'कांग्रेस का मंत्रि-मंडल बन जाने पर भी तेरे हाथ का उस्तरा थोड़े ही छूट जायगा' ऐसी आवाज़ नामू की दूकान से आई। संभवतः किसी महानुभाव ने मुझे देखकर ही ऊंची आवाज़ में ये उद्गार व्यक्त किये थे। नामदेव का सैलून वास्तव में एक वाचनालय ही था। उसके धंधे के ग्राहकों की अपेक्षा इसमें मुफ्त के पाठकों की ही संख्या बढ़ी-चढ़ी रहती है। (धीमे से कहता हूँ, कभी-कभी मैं भी ऐसों में शरीक हो जाता हूँ।) उपर्युक्त वाक्य मैंने सुना, पर वहां न ठहरते हुए मैं चुपचाप यहाँ से आगे हो लिया और अपने 'वीरों के मारुति' के पास आया। पाठकों को मैं रहस्य की बात

बताऊं ? हमारा यह मारुति वीरों का है और गत ५० वर्षों में उसने अपनी यथार्थता साबित की है।

भैंसे और मोटरें

कुछ क्षण मन में विचार आया कि पहले के निश्चय को बदलकर श्मशान में से होते हुए नदी के परले पार निकल जाऊं। पर फिर विचार किया कि नये पुल पर जाकर टहल आने के विचार को तिलांजलि देना ठीक न होगा। सामने की ओर चलने लगा। टूटे बुर्ज की ओर देखकर किनारे-किनारे से मैं चल रहा था; क्योंकि बीच में से होकर निकलने की सुविधा ही नहीं है इस रास्ते पर। सवेरे भैंसों का, दोपहर को मास्टरनियों का और सांझ को मोटरों का तांता ही इस रास्ते पर बंधा रहता है ! इस अग्निपरीक्षा में से निष्कलंक उत्तीर्ण हो जाना एक बड़े भाग्य की बात है। मैं रास्ते के किनारे पर चल रहा था। मेरा ध्यान किसी दूसरे की ओर भले ही न रहा हो पर दूसरों का ध्यान मेरी ओर नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता था। कारण, तत्काल दाईं ओर के एक मकान से 'अहो काका साहब !' ऐसी आवाज़ आई। भ्रमण में विघ्न उपस्थित हो गया ! मुझे उन सज्जन के घर जाना पड़ा।

हमारे नाना

दरवाजे में से अन्दर घुसते ही उन सज्जन ने कहा, "परमेश्वर ने आज हमारी शिकायत सुन ली; मुझे कितनी खुशी हो रही है !" मैं अलबत्ता मन में अप्रसन्न था। उस अप्रसन्नता से ही मैं अन्दर गया। गर्मी के मौसम में भी ज़मीन गीली ही थी। हो सकता है, गर्मी से बचने के खयाल से मकान मालिक ने ही ऐसा इन्तज़ाम कर रखा हो। कमरे में एक मैली सी दरी पड़ी थी। उसपर एक तकिया था, पर वह ब्रह्म की भांति माया विरहित था अर्थात् उस पर गिलाफ नहीं था। दरी पर रंगीन

दाग़ नज़र आ रहे थे। वह कितनी पुरानी थी यह बतलाना आसान नहीं था। तथापि आदरातिथ्य में नाना कुछ कम नहीं थे। उन्होंने मुझे ढासने के लिए उस तकिये के पास बैठाया। आँख में आँसू भर कर बड़े करुणाकुल स्वर में नाना कहने लगे, "अजी, अब हमारी ओर देखिए न, अब हम लोगों के मरने की बारी है!" नाना हमारी पैंठ में एक होनहार व्यक्ति हैं। कोई भी व्यक्ति उन्हें काम के लिए बुलाये वह झटपट हाज़िर हो जायेंगे। गणपति उत्सव हो, मारुति उत्सव हो, नाना काम करने के लिए सदा तत्पर रहेंगे।

नाना भिक्षुक-निर्विशेष गृहस्थ हैं। एक-दो दूकानों पर लिखापढ़ी का काम करते हैं तथा बाकी का चरितार्थ (उदर-निर्वाह) भिक्षुकी के द्वारा पूर्ण करते हैं। १६४२ से पहले तक उनकी हालत अच्छी थी, यह मुझे मालूम था; अतः उनकी इस करुणाकुलता का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

राशनिंग के कारण धर्म डूब गया

"अजी, आपके इस राशनिंग के कारण हमारा धर्म तो डूब ही गया; अब हमारे प्राणों के भी निकलने का वक्त आ रहा है!" नाना के इन शब्दों को सुनकर मैंने उनसे पूछा—"आप क्या कहना चाहते हैं?" नाना व्याकुल हो कहने लगे, "छठे-छमाहे एकाध दफा गेहूँ खाने वाले हम लोगों को अब हर रोज गेहूँ-ही-गेहूँ खाना पड़ रहा है! हर रोज कैसे खायं! उसके लिए आवश्यक घी कहां से लायें! अजी, बाजरे की तो अब याद ही रह गई है! अहा! रात के वक्त का थालीपीठ (एक खास महाराष्ट्रीय चीज) ख़त्म हो गया, मक्खन अदृश्य हो गया और जवारी का तो क्या कहना, उसकी तो सुगन्धि तक नहीं आती! और चावल हफ्ते में आध सेर भी मिल जायं तो समझिए ढेर-के-ढेर मिल गये।

चित्राहुति (भोजन समय का संस्कार) तक नहीं डाल सकते । "आत्मानं सतत रक्षेत्" के न्याय से भात की चित्राहुतियाँ हमने बन्द करदीं । अजी, धर्म डूब गया ! श्राद्धपक्ष में से पिंडदान उठ गया ! पितर कैसे संतुष्ट होंगे ? कहीं, युद्ध और देर तक चला तो क्या होगा ? अजी, यह पाप अब देखा नहीं जाता ! ये देखिए हमारे बच्चे ! ज्योंही उन्होंने यह कहा त्योंही लड़के-लड़कियों का एक मजमा कमरे में चला आया । छटांक से लेकर पसेरी तक के जैसे क्रमवार बाट रहते हैं वैसी ही यह बालसेना दिखाई देती थी । संध्या के चौवीस नाम लगभग खत्म ही हो गये होंगे, और बंगाली नामों पर भी आक्रमण हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता था ।

चावलों के अभाव में

नाना की पत्नी को विवाह के समय दिया गया आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ नजर आता था । (महाराष्ट्र में वधू को 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' यह आशीर्वाद देने की प्रथा है) 'अजी काका, यह देखिए हम ब्राह्मणों के बच्चों की चावलों के अभाव में हुई दयनीयावस्था ! सम्प्रति कहीं भी श्राद्धपक्ष-कालिक भोजन नहीं । लग्नकार्य (विवाह) में हाथ भीगता नहीं । "षरामासे षरामासे भवन्तो ब्रुवन्तो" की निष्फल बकवास करनी पड़ती है । देखिए, आपही देखिए, इन बच्चों की निकली हुई हड्डियाँ देखिए ।"

मैंने बच्चों की ओर देखा । साधारणतया नाना का कहना सही था । एक बार मन में आया भी कि कहूँ ढेर सारे बच्चों को पैदा ही क्यों किया ? पर यह सवाल मुझी पर उलट सकता था, अतः मैंने पूछा नहीं ।

मैंने उनसे कहा, "अजी, सरकार ने तो ऐसा छापा है कि मुख्यतया भात पर ही गुजारा करने वाले मनुष्य को हर रोज १० औंस चावल, ५ औंस धान, ३ औंस दाल, ८ औंस दूध, २ औंस फल और १० औंस

भाजी-तरकारी आवश्यक है।"

उन्होंने मुझसे पूछा, "औंस किसे कहते हैं, यह तो बताइए!"

मैंने कहा, "क्षण-भर को मान लीजिए आधा छटांक!"

इस पर वह बोले, "इसका एक चौथाई हिस्सा भी अपने को नहीं मिलता! भाजी तो नजर में ही नहीं आती। और एक रुपए का सेर दूध मैं कैसे लूँ? काले बाज़ार में चावल मिलते हैं, पर पैसे कहां हैं? पुनश्च, इस प्रकार के मुकदमे भी गरीबों पर ही होते हैं। आज यदि किसी को आराम है तो वह पैसे वालों को और पुलिस वालों को। उन्हें किसी भी बात की कमी नहीं है।"

मैंने कहा, "नाना, आपका कथन सर्वांशतः सत्य नहीं है। यदि पूना के लोगों को यह असत्य प्रतीत हुआ होता तो उन्होंने संगठित होकर प्रतिकार किया होता। बम्बई में अधिक 'सीधा' (राशन) मिलता है। अधिक चावल मिलते हैं। पूना ज़िले में आंबे मोर (उम्दा चावल) पैदा होता है और पूना के हिस्से में घटिया चावल आता है। यह सब इसलिए चल रहा है, क्योंकि आप लोग इसे बर्दाश्त कर लेते हैं!"

"गलती है आपकी, आप कांग्रेसवालों ने सत्ता त्याग दी, उसके कारण हम लोगों की यह दुर्दशा हो रही है!" नाना बोले।

"अजी, जब हम अधिकारारूढ़ थे तब हम धर्मध्वंसी हैं, मुसलमानों को सिर पर बैठा लेने वाले हैं, अधिकार से चिपके रहने वाले हैं, ऐसा आप लोगों के नेता और समाचार-पत्र ही कहा करते थे न! और जिस दिन हमने अधिकार त्याग दिया उस दिन 'मुक्ति-दिवस' मनाने वालों में आप ही लोग तो थे! और आज भी आप लोगों के 'स्वातंत्र्यवीर' अंग्रेज़ों का ही कारोबार अच्छा था, ऐसा कहते हैं न!"

"अजी काका, अब उन पुरानी बातों को जाने दीजिए। पेट-भर

अन्न नहीं मिलता, ठीक से कपड़े नहीं मिलते। हम जनता हैं न ! आपको स्वराज्य पाना है, उसके लिए जनता की आवश्यकता है या नहीं ! या कब्रिस्तान का स्वातंत्र्य आप चाहते हैं ? कुछ भी कीजिए, पर हमें जिंदा रखिए !"

बिलकुल ऐसे ही शब्द सन् ४३ के आखिर में नासिक जेल के अंदर वहां के एक सिपाही के मुंह से भी सुने थे। वहां राशनिंग अभी शुरू नहीं हुआ था। बाजार में गरीबों को अनाज नहीं मिलता था। रात को पहरे के वक्त हमारे कमरे के पास आकर वहां के पहरेदार हवालदार ने भी यही विचार प्रकट किये थे—'आप सब हम लोगों के लिए कष्ट-सहन करते हैं, यह सच है। आप राज्य हासिल कर लेंगे, यह भी सच है। पर उस राज्य में सजीव प्रजा तो होनी चाहिए न ! कुछ भी कीजिए हमें जीवित रखिए !'

उसके ये शब्द मनश्चक्षुओं के सामने आये। मैंने नाना से कहा, "आप जो कुछ कहते हैं वह सब सच है। पर यह संग्राम किस लिए आरम्भ हुआ है, यह आपको याद है न ? पैठनी (एक कीमती वस्त्र) की मांग करके अन्त में एक थिगरा लेकर संधि करलें क्या ? आप लोगों को धीरज रखना चाहिए। दुर्गतियों का हलाहल पीकर ही जनता स्वतंत्रता प्राप्त करेगी। यह सब अपने को भोगना ही चाहिए। अन्य देशों में स्वातंत्र्य के लिए बड़े पैमाने पर प्राणार्पण करना पड़ रहा है, उसके मुकाबले में हम इतनी प्रचंड वस्तु के लिए क्या कीमत दे रहे हैं ! यदि आप जैसे शिक्षित व्यक्ति ही प्रतिगामी विचार रखने लग जायेंगे तो काम कैसे चलेगा ? अधपेट खाकर कैसे रहना चाहिए यह तो मालूम है न !"

"अजी, सबके लिए अधिकार लीजिए। हमें भी अधपेट मत रखिए, औरों को भी मत रखिए !" नाना ने कहा।

चावल तो मिलेंगे ?

नाना का विचार तक शुद्ध था। पर तर्क से आज तक किन प्रश्नों का समाधान हुआ है ! मैंने उनसे कहा, "मान लीजिए, कांग्रेस ने अधिकार ग्रहण कर लिया, तो उससे आपके विचार में ऐसी कौन सी क्रान्ति आपके 'सीधे' में उत्पन्न हो जायगी ?"

"निदान (कम-से-कम) एक पउआ-भर चावल तो ज्यादा मिलेंगे, इतना तो होगा न !" नाना ने कहा।

मैं उनके इस वाक्य को सुनते समय उनके नेत्रों की ओर देख रहा था। उनमें मूर्त्तिमान कारुण्य निवास कर रहा था। उनमें आशा भी प्रतिफलित हो रही थी। मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और चाय के आग्रह को भी अस्वीकार कर दिया।

उस समय मेरे मस्तिष्क में दूसरे ही खयाल आ रहे थे। स्वातंत्र्य के लिए प्राणार्पण करने का उपदेश करने वाले, परकीय सत्ता की नौकरियों के पीछे पड़े हुए नवयुवक मेरी आंखों के सामने आ रहे थे। स्वातंत्र्य के लिए घर-द्वार पर अग्नि रखने के लिए कहने वाले, किरायेदारों का किराया अनेक गुना बढ़ाकर उनका शोषण करने वाले मुझे दीख रहे थे। 'स्वदेशी वस्तुएं स्वराज्य का मूलमंत्र हैं' कहकर हमारी भावनाओं का अवैध फायदा उठाकर नफेबाजी में करोड़ों रुपये पैदा करने वाले 'त्यागी' गांधी-भक्त मेरी आंखों से ओझल नहीं थे। सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्र के अप्रकाशित रहते समय, तारों के भी टिमटिमाने से पूर्व यदि जुगनू न चमके तो और कौन चमकेगा ! देश की स्वतन्त्रता के लिए छाती पर गोलियां झेलने वाले, सिर पर लाठी पड़ने के कारण लोहूलुहान हुए देशभक्त भी मेरी आंखों के सामने आते थे। उसी समय बहती गंगा में हाथ पखारने वाले देशभक्ति का ज्योतिरिंगन की भांति प्रकाश फैलाकर

अपने आदर्श का व्यापार करने वाले लक्ष्मीपुत्र भी आंखों के सामने खड़े थे। इन सबसे मैं कुछ भी नहीं कह सकता था। अन्याय, घूंसखोरी और पाप का साम्राज्य सर्वत्र फैला हुआ देखकर महात्माजी उपवास करने की सोच रहे थे। समाजांतर्गत यच्चयावत् वर्णों में नैतिक अधःपतन हुआ दृष्टिगत हो ा था। ऐसी स्थिति में एक गरीब ब्राह्मण द्वारा अधिक चावलों के लिए अधिकार स्वीकार करने का आग्रह किये जाने में जो एक विडंबना छिपी हुई थी वह 'क्षमस्व' कहने योग्य ही थी। उत्कट से लेकर उच्छिष्ट पर्यन्त सब की यही गति थी। वह आदर्श के अनुरूप नहीं थी यह भी सत्य है। पर उसमें कुछ ऐसी सचाई अवश्य थी जिसे मंजूर किये बगैर नहीं रहा जा सकता था। 'जीना है या मरना है!' इस सवाल का उसमें उत्तर छिपा हुआ था। कुछ लोग कहेंगे कि ऐसे आदश-शून्य जीवन की अपेक्षा मर जाना अच्छा और कुछ लोग कहेंगे कि आदर्शों का अस्तित्व जीवित मनुष्यों के ही लिए है; अतः वे जीवित रहने को अपना आद्य कर्त्तव्य समझेंगे। और मैं ऐसा कौन हूं जो दूसरे प्रकार के लोगों को बुरा-भला कहूं! वापस जाते समय रास्ते की भीड़ के कारण मेरी विचारों की लड़ी टूट गई, तथापि सारी रात-भर उस ब्राह्मण की दीन मुखमुद्रा और 'पउआ-भर चावल तो अधिक मिलेंगे' यह वाक्य मेरे अन्तःकरण के सामने बना ही रहा।

(यह लेख १९४५ में मराठी में लिखा गया था। उस समय किसी भी प्रांत में कांग्रेसी-मंत्रिमंडल न था।)

तब तो सभी मुनीर !

अरुणा मेरा स्कूल के दिनों का मित्र है। किन्हीं कारणों से कालेज की पढ़ाई अधूरी छोड़कर उसे नौकरी के लिए विवश होना पड़ा। आज उसकी हालत संतोषजनक है तथा दुनिया की निगाह में वह पूर्ण सुखी है। पढ़ाई-लिखाई उसको भले ही छूट गई हो पर ज्ञानप्राप्ति की उसकी आकांक्षा कभी नहीं छूटी। उसका अध्ययन विस्तृत, विचार व्यापक, एवं दृष्टि श्रेष्ठ-वस्तु ग्रहणशील है। प्रचलित राजनीति को वह अच्छी तरह जानता है और इसी कारण अनेक बार उसके साथ विचार-विनिमय करने में तथा वादविवाद करने में मुझे आनन्द अनुभव होता है। इतना ही नहीं, कई बार तो उसकी जानकारी का मुझे फायदा भी खूब होता है।

जेल से छूटकर आने के बाद हमेशा की भांति उसने मुझे चायपान के लिए घर बुलाया तथा इस बार की जेलयात्रा के अनुभव पूछे।

मैंने उसे सुनाना शुरू किया—"सरदार गृह में ९ अगस्त को तड़के ही पकड़-धकड़ की खबर हमें मिल गई थी। बम्बई जाने से पहले ही हम

समझ गए थे कि फिर पूना हम नहीं लौट सकेंगे। सीधा यरवदा की ओर रवाना होना पड़ेगा। अपने घरवालों को भी हमने यह समझा दिया था। तथापि गांधीजी के भाषण से एक महीने तक तो कुछ नहीं होगा, ऐसा हमें प्रतीत होता था और इसके कारण हम लोगों में से बहुत से लोग सरदार-गृह में निःशंक थे।

९ अगस्त को प्रातःकाल के समय पुलिस वालों ने सरदार-गृह को घेर लिया वहां मैं पकड़ में नहां आया, यह सही है, तो भी शिवाजी नगर पर रेल से उतरते ही अन्य अनेक कार्यकर्ताओं के साथ उसी दिन दोपहर के वक्त पकड़ लिया गया। ९ अगस्त की रात हमने यरवदा ही में व्यतीत की।

१० अगस्त को सबेरा होने से पहले से यरवदा की सारी बैरकें भर गईं। कुल जमा आठ-दिन ही में कैदियों की संख्या हजारों में हो गई। नियमानुसार ओढ़ना-बिछाना, कपड़े, भांडे-बर्तन कुछ भी मिलना मुश्किल हो गया। जेल के अधिकारी घबराये हुए नजर आते थे। घंटे-घंटे बाद दिन को भी और रात को भी राजकीय कैदी नारों के साथ यरवदा-मंदिर में प्रवेश करते थे। बैरकों में नियम का भंग करके आदमियों को ठूसा जा रहा है। जेल के अधिकारियों के लिए अनेक प्रयत्न करने पर भी इन्तजाम करना कठिन हो गया था। सब राजबंदियों की तरफ से जेल के अधिकारी मेरे साथ बहुत बातें ठहराते थे। उनकी लाचारी मुझे स्पष्ट नजर आती थी। राजबंदियों की असुविधा, कष्ट और उनका गुस्सा प्रतिक्षण मुझे अनुभूत होता था। आखिर में मेरे कहने पर हमारे साथियों ने बैरकों में जाने से इन्कार कर दिया। नियमानुसार प्रत्येक को जगह देने के लिए आग्रह किया। यरवदा के आसपास मिलिटरी सर्वत्र फैली पड़ी थी। मैंने अधिकारियों को सुझाया कि उन सैनिकों के पास से तम्बू लाकर इन्तजाम किया जाय। उसे उन्होंने मंजूर कर लिया। दो-चार दिन में सर्वत्र तम्बू गाड़

दिए गये और जेल को फौजी छावनी का स्वरूप प्राप्त हुआ। हमने निश्चय किया कि अपना सारा इन्तजाम हम खुद देखेंगे, फलतः हमारी इस बस्ती को कुछ काल के लिए स्वयं-शासित उपनिवेश का स्वरूप मिल गया। रसोई का काम करने वाले, परोसने का काम करने वाले, चिट्ठीरसाँ का काम करने वाले, व्यायाम का इन्तजाम करने वाले सब हमीं लोगों में से थे; सारा काम अनुशासनपूर्वक चलता था। राजकीय कैदियों से भिन्न जो कैदी वहां काम करने आते थे वे भी सब प्रसन्न थे।

इस जानकारी को सुनकर अरुणा ने कहा—"तब तुम नेताओं का तो और भी ज्यादा इन्तजाम रहता होगा।"

"वैसी कोई बात नहीं थी। यह ठीक है कि जेल में सबसे मुझे आगे कर रखा था; परन्तु उसकी वजह से हमारे लिए कोई खास इन्तजाम किया गया हो, सो कुछ नहीं था। इसके विपरीत अधिकारियों और कैदियों में जो झगड़े पैदा हो जाते थे उन्हें मिटाते-मिटाते हमारी नाक में दम आ जाता था। तो भी एक बात ध्यान में रखने योग्य है। वह है, मुनीर नाम का कैदी।"

"यह और कौन कैदी है?"

"यह काली टोपीवाला कैदी।"

"काली टोपीवाला?" अरुणा ने पूछा।

"हां, जिस कैदी ने एकाधिक बार सजा हासिल करने का पराक्रम किया हो, वहां उसे काले रंग की टोपी पहनाई जाती है। इतनी बात जरूर है कि सजाएं संपत्ति विषयक अपराधों की होनी चाहिए। उनको ही अधिक मान दिया जाता है। पूंजीवादी समाजरचना में जीवित की अपेक्षा वित्त को श्रेष्ठ समझा जाता है और उसका ही संरक्षण अधिक किया जाता है। काली-टोपी की तरह जेल में लाल और पीली टोपियां भी होती

हैं। पांच से अधिक वर्ष की सजा वाले कैदी को पीली टोपी पहननी पड़ती है। धोखेबाज और भागने की कोशिश करनेवाले कैदी को लाल टोपी दी जाती है। अनेक कैदियों की टोपियां दुरंगी रहती हैं। सन् ३१ में हमारे वार्ड में एक तिरंगी टोपीवाला भी कैदी रहता था। उसे बाबू चश्मेवाला कहते थे। मुनीर था तो कालो टोपी वाला पर वह उतना ही ईमानदार और खुले अन्तःकरण का तथा सच बोलने वाला था।

"तो फिर मतलब यह हुआ कि चोर भी ईमानदार होते हैं!" अरुणा ने कहा।

"जितनी मात्रा में चोर ईमानदार हो सकते हैं उतनी मात्रा में!"

"इस मुनीर की बात तो सुनाइए!"

"यह मुनीर जब तक हमारे तम्बू में रहा बिलकुल नियम से मेरा सारा काम करता रहा। जो भी बात उससे कहते वह बिलकुल ठीक से कर दिया करता। इतना ही क्यों, हमारे तम्बू में रहने वाले अन्य दो राजबन्दियों के बारे में वह अधिक आदर नहीं दिखाता था और अन्य राजबन्दी उसके बारे में हररोज़ शिकायत भी किया करते थे। मैं समझा करता था कि अपने लोगों में मैं प्रमुख हूँ इसीलिए शायद वह मेरे प्रति इतना आदर प्रदर्शित करता है और मेरे लिए इतनी महनत करता है। यही समझकर मैं उसके साथ व्यवहार किया करता था। पर एक दिन हमारे में से एक बन्दी ने उसके इस व्यवहार का भेद मालूम कर लिया। जब मैंने उसे सुना तो मैं चकित रह गया। मैंने उसे बुलाया। उसने मुझसेकहा:—

'आपके प्रति मेरे हृदय में विद्यमान आदर-बुद्धि का जो कारण आपको विदित हुआ है वह सत्य है। गत बीस बरसों में मैंने अनेक चोरियां की हैं, पर मुझे कुछ बहुत ज्यादा प्राप्ति उससे नहीं हुई। मैंने कभी किसी

की हत्या वगैरह नहीं की। मेरे किसी भी अपराध में आपको हिंसा दृष्टिगत नहीं होगी। मैंने किसी के घर में सेंध नहीं मारी, कहीं बटमारी नहीं की। जेब काटने के चाकू को छोड़ अन्य कोई शस्त्र मैंने हाथ में नहीं लिया।"

"यह धंधा तू कब से करता आ रहा है?"

"गत बीस बरसों से! पहले बाल-अपराधी समझकर मुझे अपराधी लड़कों के कैदखाने में डाला गया था। वहीं मैंने यह कला अधिक हस्तगत की। कहीं सभा हुई, या भीड़भाड़ हुई तो वहां मैं जाता और शांत रीति से एक-दो सेकंड में जेब काटने से जो प्राप्ति होती उतने पर संतोष कर लेता। कभी प्रयत्न असफल हो जाता है, कभी बहुत मामूली चीजें हाथ लगती हैं। पर आपकी सभा के दिन मुझे जितनी प्राप्ति हुई उतनी कभी नहीं हुई है; अतः मुझे आपके बारे में विशेष प्रेम अनुभव होता है! आपके कांग्रेस भवन की प्रायः सभी सभाओं में मैं उपस्थित रहता था। आखिर भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन में भी मैंने प्रवेश प्राप्त कर लिया था।"

"यह सब तू करता कैसे है!"

"नियमपूर्वक खादी के कपड़े पहन कर भीड़ में ज़ोर-ज़ोर से 'इन्क़लाब जिन्दाबाद' और 'गांधीजी की जय' के नारे लगाते हुए, हाथ में दो-चार अख़बार और दो-चार पुस्तकें लेकर घुस जाने का हमारा तरीका है। सफ़ाईदार उर्दू बोलकर मैंने कांग्रेस की सभा में भी प्रवेश प्राप्त किया। आपके स्वयंसेवकों से ऐसा प्रतीत हुआ कि यह कोई उत्तर हिन्दुस्तानी कार्यकर्ता है। आपके वैयक्तिक सत्याग्रह के आंदोलन के वक्त की सभाओं में उपस्थित रहकर थोड़ा-बहुत मैंने हासिल किया। आपके उस समय के सत्याग्रह की सभा में अट्ठाईस सौ रुपयों के नोट मेरे हाथ लगे और यह सब आपके व्याख्यान के ही बदौलत हुआ, इसीलिए मुझे आपके प्रति

विशेष प्रेम अनुभव होता है।"

मुनीर के इस कथन को सुनकर मैं किस तरह चारों शाने चित हो गया यह जब मैंने अण्णा को बताया, तब अण्णा ने कहा, "इसमें आपको उस अकेले मुनीर के बारे में क्यों खास बात मालूम पड़ती है ? मुनीर ने इतना तो ईमानदारी से बतला दिया कि उसने कांग्रेस की सभाओं से फायदा उठाया है। पर यदि आप अपनी कांग्रेस में जरा अधिक पता चलाने की कोशिश करें तो सैकड़ों की तादाद में 'मुनीर' भरे पड़े मिलेंगे। खादी टोपी पहनने वाले जुएबाजों को कांग्रेस ने निर्वाचन जीतने के लिए अपने नजदीक नहीं किया ! राजनीति में जैसा समय आये वैसे मतों की लीला करने वाले कृष्ण कन्हैया तुम लोगों में नहीं हैं क्या ? दुर्भिक्ष का फायदा उठा कर जनता को चूसने के लिए काला बाजार करके सम्पत्ति उपस्थित करने वाले खादी टोपी वाले आज कांग्रेस के भीतर हैं या नहीं !"

"पर अण्णा, तेरे कहने का क्या यह अर्थ है कि इस प्रकार की वृत्ति जैसी कांग्रेसजनों में है वैसी अन्य पार्टी वालों में नहीं है !"

"सर्वत्र है। हिन्दुत्व के प्रति आस्था प्रदर्शित करने वाले संस्थानिक (देशी नरेश) हैं ही न ? गरीबों की गर्दन मरोड़ने वाले, बड़े-बड़े देवालय बांधकर धर्म-मार्तंड नाम से अपनी ख्याति करवाते ही हैं न ? और साहित्य के क्षेत्र में ही क्या है ? श्रीमान् लोगों की स्तुति करके अपनी प्रतिभा को बेचने वाले कितने ही साहित्यिक मौजूद हैं। स्वार्थ के लिए कला (संगीत) का विक्रय करने वाले कितने ही कलावन्त (संगीतज्ञ) हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि, अपने भीतरी गुणों के बल पर सत्कार प्राप्त करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है और परिस्थिति का फायदा उठाकर श्रेष्ठत्व हासिल करने वालों की संख्या अधिक है। चोरी करके प्राप्त किये गये धन में और गुण न रहते हुए प्राप्त किये गये सम्मान में अन्तर ही

क्या है ? दोनों ओर अहिंसा ही से काम होता है। ऐसी हालत में बेचारे अकेले मुनीर का नाम बदनाम करना ठीक नहीं। उसने ईमानदारी से सत्य सत्य कह कर थोड़ी कृतज्ञता तो व्यक्त की, अन्यत्र तो उतना भी नहीं नजर आता। सम्मान किंवा प्रतिष्ठा हमें योग्य रीति से मिली है, किंवा हम उसके लिए पात्र हैं, ऐसा विचार कितने ही लोग करते हैं ? नेहरू जाकेट पहनते ही हरेक अपने को नेहरू ही समझने लग जाता है; भगवी टोपी पहनते ही सावरकरी गाली-गलौच मुँह पर चढ़ जाती है, हाथ में 'लोक युद्ध' पकड़ कर हर कोई अपने को स्टालिन समझने लग जाता है, और गांधी का अनुकरण करके कितने ही गांधी भक्तों के दिमाग आसमान पर चढ़ने लग जाते है। आज के समाज में गुणों के मूल्य-मापन के लिए कोई उपयुक्त साधन नहीं है। सम्पत्ति को गुणों का नमूना बनाया ही नहीं जा सकता। लोकप्रियता भी कोई अच्छा नमूना नहीं है। यही कारण है कि आज की परिस्थिति में कोई गदहा गोपाल बन जाय तो उसको खोज निकालना बड़ा कठिन हो जाता है।"

अण्णा के इस वक्तृत्व को सुन कर मैं एकदम चित्त होगया ! योग्यता के अनुसार सम्मान का सिद्धान्त बड़ा अच्छा है ; पर समाज में उसे प्रस्थापित करना कितना मुश्किल है। अपनी योग्यता की तुलना में कोई चीज ज्यादा मिल जाय तो क्या उसे चोरी कहा जाय ! तब तो बड़ी मुसीबत उठ खड़ी हो जायगी ! सभी 'मुनीर' हो जायेंगे। प्रयत्न और फल के बीच सदैव समानुपात रहता हो ऐसा थोड़े ही है ! पुनश्च, सभी प्रयत्नों का सामाजिक मूल्य एक ही दृष्टि से आंका जाय यह भी उचित नहीं, और यह समझते हुए ही मैंने अण्णा से कहा—

"सिकन्दर के सामने एक डकैत ने जो दावा किया वही तू भी कह रहा है। डकैत किन्हीं एक-दो के घर चोरी करता है, एक-दो घर में सेंध

लगाता है, एक-दो का खून करता है; पर सिकन्दर प्रदेश के प्रदेश लूटता था, युद्ध में लाखों लोगों को यमलोक पहुंचा देता था, इसी तुलना में डकैत ने कहा था कि मुझ में और सिकन्दर में कोई अन्तर नहीं है एक का व्यापार फुटकर तो दूसरे का थोक, इतना ही अन्तर है। यदि इसी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो कांग्रेस की सभा में जेबें कतरने वाले मुनीर में और (उसी सभा में) बड़े-बड़े कार्यक्रमों की गप्पें हांकने वाले मुझमें तथा (मेरे जैसे) औरों में क्या अन्तर रह जायगा ?"

"कुछ भी नहीं।"

"तब तो सिकन्दर बादशाह की ही नौबत आ गई, ऐसा समझना होगा। सिकन्दर और डकैत ! देश के लिए प्रतिज्ञा करके लड़ने वाले वीर और जेब कतरा मुनीर ! सचमुच विचार करने योग्य वस्तु है।

चलो यार लन्दन चलें

एक कवि ने कहा है कि काल कभी अत्यन्त वेग से चलता है तो कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह सर्वथा निःस्पंद अवस्था में है। कभी वह अटकता खटकता चलता है तो कभी वह मार्ग में आने वाली बाधाओं को इस तीव्र गति से पार करता हुआ चलता है कि देखने वाला दंग रह जाता है। वाग्दत्त वधूवर को विवाह तिथि तक का काल राह में रुक जाने वाला रुकावटें पैदा करने वाला, अड़ियल, परिस्थिति को न पहचानने वाला प्रतीत होता है। मृत्यु दंड की सजा वाले कैदी को अन्तिम क्षण तक का काल तीव्र गति वाला प्रतीत होता है। राजनीतिक लोग अपनी सुविधा के अनुसार काल के वेग को निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं। उन को ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल जगच्चक्र उनकी आयोजनाओं के अनुसार ही चला करता है। मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प किया करता है, पर काल सदा यही सिद्ध करके दिखाया करता है कि मनुष्यों के सारे प्रयत्न निर्मूल एवं क्षुद्र हैं। मानवीय कर्तृत्व को महत्व प्रदान करके भी किन्हीं दुर्बोध घटनाओं का अर्थ लगाने के लिए

दैव नामक वस्तु को मानना पड़ता है। कम-से-कम आर्य-संस्कृति में दैव को काय का पांचवां कारण माना गया है। हम अपने भाग्य का स्वरूप कैसा भी क्यों न निर्माण कर रहे हों, उसका अन्तिम स्वरूप तो कोई अपौरुष शक्ति ही निर्धारित किया करती है।

ये एवं एतादृश अन्य अनेक प्रकार के विचार मेरे मस्तिष्क में उस वक्त आ रहे थे, जब मैं विलिंग्डन हवाई अड्डे के स्वागत-गृह में खड़ा हुआ था। पृथ्वी की भांति गोलाकृतिवाले दालान में अनेक स्त्री-पुरुष एकत्र थे। इस समुदाय में सत्ता के सिंहासन के चौथे खंबे के प्रतिनिधि (पत्रकार) विशेष दौड़धूप में थे। गत चौबीस घंटों में हम किस तरह व्यस्त रहे, समाचार कैसे प्राप्त किये, कैसा समाचार लिख भेजेंगे, यही उनकी बातचीत का विषय था। दो-चार आदमी इकट्ठे हुए कि "वार्ता वधू धनादिक" की चल पड़ी है। दो-चार पत्र पंडित एकत्र हुए कि समाचार किस प्रकार हस्तगत किया, किस प्रकार घड़ा, इन्हीं बातों की चर्चा होती है। इन पत्र-पंडितों में विदेशी संवाददाताओं के साथ-साथ देशी संवाददाता भी थे, पर उनका यह देशित्व और विदेशित्व केवल रंग से ही पहचाना जा सकता था। कारण, वेशभूषा से सभी विदेशी थे। किंबहुना देशी-भूषा में भारतीय संवाददाता उतना ही दुर्लभ एवं विस्मयकारक हैं जितना कि व्यापार में कोई महाराष्ट्रीय।

उस समुदाय के लोगों को देखने के पश्चात यह देश गरीब है ऐसा किसी को अनुभव नहीं हो सकता था। उपस्थित स्त्री-समुदाय तो मानो विवाह समारम्भ के ठाठ में था। दिल्ली के राजकीय वर्तुल में विचरण करने वाली स्त्रियों को देखकर कोई भी दर्शक यही कहेगा कि वेश-भूषा के बारे में तो ये सारे जगत् का नेतृत्व अवश्य स्वीकार कर सकती हैं। एक दर्जन से ज्यादा ही केमरा'न वहाँ मौजूद थे। कदाचित उनकी मौजूदगी के

कारण ही लोगों की वेश-भूषा में इतनी स्वच्छता दिखाई दे रही थी। उनमें कुछ-एक इसके लिये विशेष प्रयत्नशील दीख पड़ते थे, और जनान्तिकतया कहता हूं, मैंने भी थोड़ा-सा प्रयत्न किया। पर बगैर इस्त्री का कोट सिर्फ हाथ फेरने से तो इस्त्री नहीं हो जाता न? अथच, मोटा-झोटा खादी का परिधान वस्त्र संवारने-बंवारने से महीन तो नहीं हो सकता न? चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करते समय जैसे तारिकाएं दिखाई देती हैं, तद्वत् नारी-समुदाय दिखाई दे रहा था। इतने में पुच्छल नक्षत्र के सदृश विचित्रता में ही अपने स्वभाव की सुसंगति दिखलाने वाला वेश किये एक व्यक्ति ने उस दालान में प्रवेश किया। वह व्यक्ति थे राष्ट्रपति आचार्य कृपलानी। मेरे मन को थोड़ी तसल्ली हुई। आखिर एक व्यक्ति तो अपने-जैसा नज़र आया।

थोड़ी ही देर में राजेन्द्र बाबू भी आ गये। हम तीनों बैंच पर बैठ कर नेहरूजी के आने की राह देखते रहे। घर से बाहर निकलते समय सारा घर छानकर किसी समय कात कर बनाया हुआ एक सूती हार पंडितजी को पहनाने के इरादे से मैं अपने साथ ले आया था। उस पर नजर गड़ाकर कृपलानीजी ने मुझसे कहा, "पंडितजी इस हार पर प्रसन्न तो होंगे नहीं, तब आप यह मुझीको क्यों नहीं पहना देते?"

मैंने कहा, "लन्दन की यात्रा करने वाले के लिए है यह। इसमें अपनी गर्दन उलझानी हो तो इतना दिव्य (अग्नि-परीक्षा) कराना पड़ेगा।"

इतने में जनसमुदाय के बीच गड़बड़ मच गई और मैं उठकर प्रवेश-द्वार पर पहुंचा। पंडितजी मोटर में से बाहर आये। उनका स्वागत करके सूती हार तो मैंने पंडितजी के गले में पहना ही दिया। अनेक पुरुषों ने उनका स्वागत किया। अनेक व्यक्ति फूलों के हार लाये हुए थे। उनको

पंडितजी ने स्वीकार किया। पर गले में उन्होंने सिर्फ सूती हार ही रखा। उस हार में अपनी अङ्गुली उलझाये हुए वह बोल रहे थे और विचार-मग्न भी दिखाई देते थे। उनके मन में उस समय कौन-से विचार चल रहे होंगे, इस बात का मैं विचार कर रहा था। एकाएक लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व की एक घटना मेरी आंखों के सामने आकर खड़ी होगई।

१९३१ का अगस्त का महीना होगा वह। गांधीजी "राजपूताना" नामक जहाज में बैठकर गोलमेज-परिषद् में भाग लेने के लिए लन्दन जा रहे थे। उस समय भी बम्बई बन्दरगाह में खड़े हुए जहाज पर गांधीजी को विदा देने के लिए एकत्र हुए लोगों में विद्यमान रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर वह जा रहे थे। १९३१ के युद्ध के अनन्तर प्रभूयमान आशाओं और आकांक्षाओं का बोझ अपने ऊपर लिए हुए वे प्रयाण कर रहे थे। सत्य के अतिरिक्त उनका सहकारी और कौन था? सौजन्य के अतिरिक्त उनके पास कौन-सा शस्त्र था? दृढ़ विश्वास के अतिरिक्त उनका मार्गदर्शक कौन था? वह कुछ चिन्तित-से दिखाई देते थे। उनके प्रस्थान करने से पूर्व गुर्जर कवि मेघाजी का एक काव्य उन्हें भेंट दिया गया था। यह प्याला कड़ुआ है परन्तु उसे आप ही पी सकते हैं, यह उसका आशय था। उनके साथ उनके अनेक सहकारी जाने के लिए उत्सुक थे; पर किसी को नहीं लिया गया। भारतवर्ष का भाग्य भारत ही में निर्मित होना चाहिए। ऐसा कहते हुए वे रवाना हो रहे थे। उन दिनों भी इतिहास बहुत ही वेग से क्रियाशील हो रहा था। पर उसका क्षेत्र उन दिनों इंग्लैंड था। एक मंत्रिमंडल की नींव हिल चुकी थी। उसकी जगह दूसरा मंत्रिमण्डल आ रहा था। निर्वाचन का आक्रोश आकर्षित हो रहा था। सबको ऐसा ही लगता था कि बस, स्वराज्य तो आन ही पहुँचा, कुछ महीनों की ही कसर है।

रात्रि शीघ्र ही समाप्त हो जायगी और शीघ्र ही प्रभात का उदय होगा। द्विरेफ के इस प्रकार आशा बांधकर बैठने पर जिस प्रकार गजराज ने आकर कमलवन को उद्ध्वस्त कर दिया, वैसा ही कुछ प्रकार इस देश में भी हुआ। प्रचण्ड प्रभंजन की भांति नादिरशाही शासन ने भारत को ध्वस्त कर दिया। समर क्षेत्र में अजेय साबित होने वाले महात्मा ब्रिटिश लोकसभा की कुटिल नीति के समक्ष सर्वथा निष्प्रभ रह गये। थोड़ी ही देर में स्वराज्य का सौदा तय हो जाने की आशा लगाये हुए राष्ट्र की दिङ्मूढ़ की सी अवस्था हो गई।

कदाचित्, कदाचित् ही कह रहा हूँ, नेहरूजी के मन में भी गत इतिहास की स्मृतियां जागरित हो उठी हों? आज वह भी भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बन कर जा रहे थे। सहकारियों को अपने साथ लेकर जाने की उनकी इच्छा तो थी, पर सहकारी कोई जाने को तैयार नहीं था। सलाहकारों की आवश्यकता थी, पर सलाहकार कोई बनने के लिए तैयार नहीं था। भारत के भाग्य को भारत में ही तैयार होना है, यह निश्चित होजाने पर भी वह भारत से बाहर जा रहे थे। स्वातन्त्र्य की कीमत अश्रु, और रक्त के रूप में भारत पर्याप्त अदा कर चुका है, इसका परिज्ञान उनकी मुख-मुद्रा पर से स्पष्ट व्यक्त हो रहा था।

भ्रूणहत्या करने वाली दाई

शौर्य, उदारता, बुद्धिमत्ता आदि गुणों से ही नेतृत्व की पूर्णता नहीं होती, यह इस काल का कटु अनुभव है। गत कुछ वर्षों में, विशेषतः गत कुछ महीनों में, तत्रापि गत कुछ दिनों में, राजकीय क्षेत्रों में जो घटनाएं घटित हुई हैं, उन्हें देखने पर कोई भी ख़म ठोंक कर नहीं कह सकता कि मैं ही मैदान मार लूंगा। कोई व्यक्ति कहीं पर बैठा हुआ किसी प्रकार का कूट-प्रपंच कर रहा है और मुंह तक आया हुआ कौर

छीन लेने के प्रयत्न में लगा हुआ है, इस प्रकार का संदेह आज वातावरण में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। भाषा अर्थ के लिए नहीं प्रत्युत स्वार्थ के लिए है, ऐसा ही अनुभव हो रहा है। जन्म लेने वाले बालक को दाई ही गला दबाकर मार तो नहीं डालेगी, इस प्रकार की भीति आज बहुतों के मन में उत्पन्न हुई हुई है। जमीन समझकर पैर रखने जायं और पैर जाकर पानी के प्रवाह में गिर पड़ें, इस प्रकार का संमोह उत्पन्न हो गया है और ऐसी इस विचित्र परिस्थिति में पंडितजी का बाहर जाना कहां तक योग्य है ऐसा प्रश्न अनेक के मस्तिष्क में आता। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने दोनों हाथों से दोनों पक्षों (कांग्रेस और लीग) को आश्वासन दे रखा था, व्यक्त रूप में तो दे ही रखा था, तब अव्यक्त रूप में न दिया हो यह कैसे कहा जा सकता था? अर्धदृष्टि वायसराय (वेवल) अदूरदृष्टि तो थे नहीं, हां, दीर्घसूत्री अवश्य थे।

उत्सवमूर्ति तथा अचलमूर्ति

इतने में 'खामोश खामोश' की मेघ-गर्जना हुई। विमानगृह के अधिकारी ने सूचित करते हुए कहा कि यात्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोहे की सींखचियों से आगे न जाय। पंडितजी ने भीड़ में से निकल कर विमान की दिशा में जाना आरम्भ किया। उन्हीं के नभोवाणी द्वारा प्रसूत किये शब्दों में कहा जाय तो दैव उन्हें संकेत कर रहा था। वह यदि अकेले का ही दैव लेकर जा रहे होते तो उसमें कोई बड़ी बात नहीं थी, पर वह तो अपने साथ चालीस करोड़ जनता के दैव को लेकर जा रहे थे।

समीपवर्ती एक पत्रपंडित ने मुझसे पूछा, "आपको क्या प्रतीत होता है?"

मैंने कहा, "अब प्रतीति का प्रश्न ही नहीं रह गया है। अब तो देखने का प्रश्न रह गया है। हमारा उत्साह और हमारी उतावली

विलायत जा रही है और हमारा निश्चय एवं निग्रह यहीं रह रहा है यह हमारे लिये सौभाग्य की बात है।"

उसने पूछा, "इसका अर्थ" ?

मैंने कहा, सरदार पटेल देवालय में संस्थापित अचलमूर्ति है और पंडितजी उत्सवमूर्ति। सरदार निग्रह है। 'ना' कब कहना चाहिए यह केवल उन्हीं को अवगत है। एतावता नेहरूजी के जाने में खतरा भले ही हो पर भय की कोई बात नहीं।"

मैं कुछ अधिक नीति-पंडित हूं, ऐसी उसकी धारणा हुई होगी, अतएव उसने अपना मुँह दूसरी ओर को फेर लिया।

एक मिनिट की 'गुफ्तगू'

गत छः महीनों की राजनीतिक प्रगति का जिसने अवलोकन किया है, वह यह अच्छी तरह जान गया होगा कि राजनीति में दृढ़निश्चयी एवं कठोर व्यक्ति की कितनी अधिक आवश्यकता है। जो स्वय किसी के पास नहीं जाता, लोग उसके पास दौड़-दौड़ जाते हैं। जो किसी से बोलने के लिए तैयार नहीं, उससे लोग बातचीत करने के लिए तैयार रहते हैं। जो यह स्वयं नहीं बतलाता कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है, लोग उसी से जाकर पूछते हैं कि आप क्या लीजिएगा ? इन सब बातों का अर्थ हम कब समझेंगे ? हम अपनी स्वतन्त्र गति से क्यों न चलें ? जब हमारी अपनी शक्ति आज हमारे लिए आधार बनी हुई है, तब हम परसुखापेक्षी क्यों रहें ? अपनी राजनीति के लिए जब हम स्वयंमेव सर्वसमर्थ हैं, ऐसी स्थिति हम अधीर वृत्ति होकर अविवेक पूर्वक अपना सर्वनाश क्यों करलें ? अब हमारी स्वतन्त्रता को कोई हमसे दूर नहीं रख सकता। हम यदि चलने लगेंगे तो वे लोग जो स्तब्ध होकर हमारे पीछे खड़े हैं, अपने आप ही गतिशील होकर हमारे मार्ग का अनुसरण करने लग जायेंगे, यदि हम यह

समझने लग जायं कि जो हमारे मार्ग में रुकावटें पैदा करना चाहते हैं, उनके ऐसा करने से हमारा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, तो वे अपने आप ही सरल मार्ग पर आ जायेंगे। पहले भ्रमणमार्ग का मानचित्र रेखांकित करके नदी के प्रवाह ने कभी अपना प्रगमन आरम्भ किया है ? नदी तो अपना मार्ग, अपना विस्तार एवं अपनी व्याप्ति मार्गक्रमण करते-करते ही निर्धारित किया करती है। हवाई सेना के साथ वहां उपस्थित सारा जन-समुदाय जयहिंद की गर्जना करने लगा। पंडितजी ने राष्ट्रपति तथा राजेंद्र बाबू के साथ एक मिनिट गुफ्तगू की; हमारे साथ हस्तान्दोलन किया तथा सरदार बलदेवसिंह का हाथ अपने हाथ में लेकर वह विमान की ओर गये।

दो पंखे

विमान का यन्त्र--गर्जन आरम्भ हुआ, पर एंजिन का एक पंखा चल के ही न दे ! किसी ने कहा, जब तक दोनों पंखे चलने न लग जायं यह उड़ेगा कैसे ? दूसरा कहने लगा, एक पंखा जोर से चालू हो गया तो दूसरा अपने आप ही चालू हो जायगा और मानों किन्हीं घटमान एवं घटिष्यमाण घटनाओं के प्रतीकस्वरूप एक पंखा थोड़ी देर तक जोर से चलता रहा तत्पश्चात् दूसरा भी चालू हो गया और एक निमेष में विमान भूमि से अलग हो गया। दो एक मिनटों में आंखों से ओझल भी हो गया।

मैं सोचने लगा काल किस वेग से आगे जायगा, यह नहीं कहा जा सकता। वह हमें पीछे की ओर भी ले जा सकता है। कारण, लंदन सदा से ही भारत की आशाओं की श्मशान-भूमि रही है। जिसकी इच्छा नहीं की वह प्राप्त हो और अपेक्षा नहीं की वह अनुभव में आये, यही आज तक का इतिहास रहा है। एकत्र की हुई शक्ति वहां बिखर जाती है और

निश्चय धरा-का-धरा रह जाता है। यह होने पर भी विश्व के अनेक-अनेक राजनीतिज्ञों को लंदन का मोह हुआ करता है। अध्यक्ष विल्सन् की करुणावस्था लंदन ही में हुई। लीग और कांग्रेस वाले अपना सारा धोना लंदन के ही धोबीघाट पर ले जाना चाहते हों तो वह इस देश के लिए एक महान् दुर्दैव की वस्तु होगी। आज देश में प्राणहानि हो रही है उसी के साथ परदेश में मानहानि होने वाली हो तो...तो इस देश के दुर्दैव का अन्त नहीं, यही कहना चाहिए।

मैं अपनी इस विचार तन्द्रा में लीन था कि इसी बीच मैंने किसी मजदूर को "चलो यार लंदन में" यह गीत गाते हुए सुना। उसे कदाचित इस बात की कल्पना भी नहीं थी कि आज हो क्या रहा है? पर वह गीत इस बात का प्रतीक था कि सामान्य मनुष्य को किस प्रकार की प्रतीति होती है। मैंने भी मोटर में बैठते समय अपने स्नेहियों से कहा, "चलो यार लंदन में"। अबोध उत्साह भी जीवन की एक बड़ी भारी शक्ति है, क्यों सत्य है न?

गोटीराम भैया

असेम्बली भवन में बैठा हुआ मैं पूना से आये समाचार-पत्र पढ़ रहा था। एक खबर से मालूम हुआ कि हमारे गोटीराम भैया का एकाएक देहान्त हो गया है। मार्च के पहले अठवारे में चुनाव सम्बन्धी तूफानी दौरा करता हुआ जब मैं कुछ घटों के लिए पूना रुका था तभी गोटीराम भैया से मुलाकात हुई थी। चुनाव की बात आते ही जब गोटीराम भैया ने अपने एक-चौथाई सदी से परिचित स्वर में बतलाया कि काम 'कम्पलेट' हो गया है तो मुझे बहुत ही आनन्द हुआ मैं जानता था कि कांग्रेसी उम्मीदवारों के सम्बन्ध में पूना में अन्दर ही अन्दर कुछ अप्रशस्त एवं अप्रामाणिक प्रचार चल रहा है। गलतफहमी की आग दावानल की भाँति प्रज्वलित हो कर अभी तक बुझने में नहीं आई थी। कार्यकर्त्ता तथा कमेटियां उदासीनता तथा उद्वेग की छाया में कुछ कुम्हलाई हुई सी दिखलाई दे रही थीं। नियामक मण्डल काफी जोश के साथ काम करता हुआ दिखाई देता था। तथापि ऐसा भास होता था कि कहीं पर किसी का मन आशंकित-सा है। इसी कारण जब भैया के आश्वासन से मुझे यह मालूम पड़ा कि मंड़ई

विद्यापीठ अपना बाजू संभाले हुए हैं तो मुझे आनन्द होना स्वाभाविक था।

गत चौथाई सदी के अपने सार्वजनिक जीवन में मैंने गोटीराम भैया को कभी कम महत्व का व्यक्ति नहीं माना। उनसे मेरा परिचय सर्वप्रथम सन् १९२० में हुआ। असहयोग के उस प्रभात काल में भैया का वह भव्य शरीर, विस्तृत भालप्रदेश, कदाचित इसी कारण नाराज होकर नीचे दबी हुई नाक, पहलवानी पेशे का रंग-ढंग तथा तड़के-तड़के धूप चढ़ आने तक साइकिल पर या पैदल हाथ में तिरंगा झंडा लिए "देशाशी वणवा लागला, जन हो खादी वापरा" (देश में प्रचण्ड दावाग्नि प्रज्वलित है, धारण करो हे जन खादी परिधान को) की निरन्तर चाल रहने वाली घोषणा—ये सब पूना के तत्कालीन इतिहास में अमर रहने वाली बातें थीं। और हम जैसे लोगों के लिए जिन्होंने राजनीति के क्षेत्र में नया-नया ही प्रवेश किया था, भैया एक गर्व की वस्तु हो गये थे। पूना की मंड़ई (सब्जीमंडी) क्या थी एक शक्ति का केन्द्र थी, गांधी-भक्ति का तीर्थ थी। निःस्वार्थ जन-सेवा का निवास-स्थान थी। उस समय के लोगों में अहमद भाई तंबोली प्रमुख थे। अहमद भाई एक बिनबोल मगर बिनमोल कार्य-कर्त्ता थे। मंड़ई की वह मंगलमूर्ति थे। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही को उनके बारे में आत्मीयता प्रतीत हुआ करती थी। गोटीराम भैया उनके दाहिने हाथ थे। पिकेटिंग के अभियोग में किस तरह उन्हें सजा हुई; उसके बाद मैंने और भैया ने जेल में जाकर म्युनिसिपल चुनाव के लिए किस तरह उनकी सम्मति प्राप्त की; कैसे उनका चुनाव हुआ; कैसी-कैसी मंड़ई में सभायें हुईं; मेरे यह कहने पर कि रायबहादुर लल्लूभाई कांग्रेस के उम्मीदवार नहीं हैं किस तरह सभा में हंगामा मच गया; किस प्रकार मेरी रक्षा के लिए भैया ने मेरे चारों तरफ घेरा डाला; किस प्रकार परिवर्तन-वादियों और अपरिवर्तनवादियों में तीव्र मतभेद होते हुए भी मुझ में और

मंड़ईवालों में अखंड और अबाधित मैत्री बनी रही ये सब बातें आज मेरी स्मृति में अत्यन्त तीव्र रूप से आ रही हैं।

* * * *

तीस और बत्तीस साल के आन्दोलन में भैया ने कठोर कारावास सहन किया। सरकार की दृष्टि में वह एक सामान्य मनुष्य समझे गये, इसीलिए दूसरा दर्जा दिया गया और हमें दूसरा। स्वभावतः अनेक बार एक ही जेल में रहते हुए भी हम एक-दूसरे से मिल नहीं पाये और न बातचीत कर पाये। पर बयालिस के आन्दोलन में यह सब बदल गया। नौ अगस्त के सुप्रभात में बम्बई के सरदारगृह पर घेरा डालने वाले पुलिस वालों ने मेरा तथा जेधे का पीछा करके हमें शिवाजीनगर पर ही पकड़ लिया तथा वहां से हमें सीधे यरवदा पहुंचा दिया। वहां दरवाजे पर संभाजी जेलर और भैया खड़े हुए थे। भैया ने बताया कि उन्हें अभी-अभी पकड़ कर पहुँचाया गया है। उस दिन से लेकर मई १९४४ तक अर्थात् भैया की रिहाई होने तक भैया मेरे ही साथ रहे। यरवदा इंडस्ट्रियल स्कूल, साबरमति और नासिक इन सभी जेलों में वह मेरे ही साथ थे। मैंने भी जोड़तोड़ लगाकर भैया को "ए" क्लास डिटेन्यू के रूप में रखने की व्यवस्था करवा दी थी।

जेल में भैया का कमरा एक मंदिर था। सामने छोटा-सा बगीचा, अन्दर अनेक देवताओं के चित्र और भक्तिविषयक ग्रन्थ। जिस प्रकार शरीर में आत्मा निद्राधीन रहती है उसी प्रकार उन भक्तिविषयक ग्रन्थों के पृष्ठों में "शांभवी" भरी हुई थी। हर रोज रात को भैया अपनी खंजड़ी बजाकर भक्ति-मार्ग की पुकार लगाते और ज्ञानी तथा आर्त्त दोनों को अपने पास बुलाया करते थे। सहजानन्दस्वामी जैसे ज्ञान-मार्गी; साने गुरुजी जैसे भक्तिमार्गी; शीघ्र रिहाई की इच्छा से भजन में भाग लेने वाले अनेक

आर्त्त; मेरे जैसे भजन-पूजा आदि वस्तुओं का उपहास करने वाले उपहासक, सभी भैया के कमरे में एकत्र हुआ करते थे। ब्रह्मानन्द के पद, कबीर के दोहे, तुकाराम के अभंग आदि तो भैया सुनाया ही करते थे, इनके अतिरिक्त वह स्वकृत काव्य का भी रसास्वादन कराते थे। इंडस्ट्रियल स्कूल के उपनिवेश में हमारे साथ कुछ साम्यवादी और समाजवादी युवक भी रहा करते थे। उन लोगों से मैंने कहा कि भैया की शक्ल कार्ल मार्क्स की शक्ल से मिलती है। इस साम्य के कारण ही उन नास्तिक लोगों में से भी कुछ लोग भैया की भजन मंडली में शामिल होने लगे। भैया के भजन में रौनक लाने के लिये तथा भक्ति के प्रादुर्भाव के लिए कैलाशपति के अत्यन्त प्रिय दो द्रव्यों की आवश्यकता रहती थी और उन वस्तुओं का अभाव न रहे इस बात का मुझे हर समय ध्यान रखना पड़ता था।

पूना से जिस समय हम पन्द्रह आदमियों को साबरमती भेजा गया था उस समय की घटना मुझे आज याद आती है। वहां जाने पर जब भैया को मालूम हुआ कि सामान की तलाशी लिये बिना हमें अन्दर नहीं जाने दिया जायगा तब उन्होंने मेरी शरण ली, क्योंकि उनके पास ये चीजें भरपूर थीं। जेल के अन्दर के भाग में दादा साहेब मावलंकर हम लोगों के स्वागत के लिये चाय की तैयारी किये बैठे हुए थे। समस्या विकट थी, तथापि बड़ी युक्ति से मैं पहरेदार की नजर बचाकर भैया की ये सारी चीजें फाटक की सीमा से उनके निवास-स्थान तक सुरक्षित ले गया। वहां भैया ने अपने गाने तथा भजन से साबरमती जेल के कैदियों के मन इस प्रकार मोहित कर लिये कि भैया के लिए आवश्यक पुरस्कार की बिलकुल कमी नहीं पड़ी। साबरमती से नासिक जेल के लिए प्रस्थान करने से पूर्व बिदाई देते समय लोगों ने अपने भाषणों में भैया की जो प्रशंसा की उसे सुनकर हम में से कुछ को तो भैया की

लोकप्रियता पर कुछ ईर्ष्या ही हुई।

* * * *

नासिक की जेल वह भूमि है जिसे भगवान राम ने अपने पदक्षेप से पवित्र किया था। कौन कह सकता है कि उस स्थान पर विद्यमान वृक्षों की पंक्तियों में बैठकर अथवा गोदावरी के परिसर में भटकते हुए प्रभु रामचन्द्र ने मानव-शत्रु दशानन के वध का निश्चय किया हो। मेरे कमरे के एक पार्श्व में जेधे तथा दूसरे पार्श्व में भैया रहा करते थे। बहुत सवेरे उठकर मैं चार-पांच घंटे लेखन कार्य किया करता था। उस काम में किसी प्रकार की बाधा न आये, इस बात का ध्यान ये दोनों सन्मित्र रखा करते थे। महीने पर महीने जेल में ही व्यतीत होते जा रहे थे। यह देखकर नये तथा पुराने कार्यकर्त्ता थोड़े निराश और अन्यमनस्क से हो गये थे। आरम्भ काल का उत्साह समाप्त होता जा रहा था। बहुतों की अध्ययन-शीलता क्षीण होती जा रही थी। खिलाड़ी वृत्ति चिड़चिड़ी वृत्ति को जगह देने लगी थी। मुक्तमनस्कता उन्मनस्कता के रूप में परिवर्तित हो चली थी। यदि थोड़े से लोगों को अपवाद मानें तो प्रायः सभी व्यक्तियों की मनःप्रवृत्ति उदासीन होती जा रही थी। सहजानन्द स्वामी के चतुः सूत्री पर होने वाले विवेचन में रस लेने वाला श्रोतावृन्द कम होता चला जा रहा था। अनेक विषयों पर व्याख्यान कराने के विचार से प्रारम्भ की गई व्याख्यानमाला नाममात्र के लिए ही अवशिष्ट रह गई थी। परन्तु हमारे भैया का भजन-क्लब नन्दादीप की भांति अखंड रूप से लौ उठाता रहा, गंगा के प्रवाह की भांति वर्द्धिष्णु होता रहा। उस मंडली में मैं भी भाग लिया करता था।

१९४४ के मार्च का महीना था। महाशिवरात्रि थी। उस दिन मैंने 'राज्य शास्त्र विचार' नामक ग्रंथ के लेखन को समाप्त करने का निश्चय कर

रखा था। हमारे मित्रों का यह निश्चय हुआ कि इस अवसर को एक समारम्भ के रूप में सम्पन्न किया जाये। यह निश्चय हुआ कि शिवरात्रि के लिए अनुरूप प्रसाद शांभवी का सब को पान कराया जाय। इस आयोजन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने का भार हमारे सकलगुणसम्पन्न पांडुरंग (उत्पात) पर डाला गया। पांडुरंग एक प्रकार के हमारे जेल जीवन के डाकिया थे। रिहाई की खबर वही लाया करते थे। किसी को किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो उसको लाकर देने का चातुर्य उन्हीं में था। डेढ़सौ आदमियों को 'राज्य शास्त्र विचार' ग्रंथ की समाप्ति के उपलक्ष्य में भरपूर शांभवी पिलाने का श्रेय भैया ने हासिल किया और संयोग की बात यह है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय अर्थात् गत गांधी जयन्ती के मौके पर भैया ने ही अगुआपन स्वीकार करके अपने खर्च से पेड़े बांटकर मिठास पैदा की।

और आज यह सहृदय सहकारी विलुप्त हो गया है। व्यास की तरह खादी को कंठरव से कामधेनु बताने वाले एक निस्सीम खादीभक्त को आज मृत्यु ने हम से छीन लिया है। फैजपुर कांग्रेस के समय पूना से फैजपुर तक पैदल यात्रा करने वाला यात्री आज अपनी जीवन-यात्रा समाप्त किये बैठा है। अनेक बार अनेक वर्षों तक कारागृह में अपना जीवन व्यतीत करने वाले एक फौलादी राष्ट्रभक्त को मृत्यु ने मृदु कर लिया है। मेरे मंडई विद्यापीठ का आद्य स्नातक आज "सा विद्या या विमुक्तये" इस महान् तत्व का आचरण करते हुए दिवंगत हो गया है। भजन के वक्त भैया के चिर परिचित आवाज में निकलने वाले शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं—"इस गाड़ी से जाने वाले, चलो तुम्हारी बारी है।"

और अपना समय आते ही भैया चले गये। एक सन्मित्र से, एक अनुयायी से, एक नागरिक से, अन्धेरी रात में आवाज लगाते ही प्रत्युत्तर देकर तैयार रहने वाले अपने शरीर एवं कीर्ति के संरक्षक से आज मैं हाथ धो बैठा हूँ। भैया, समस्त महाराष्ट्र की ओर से तुम्हें मेरे शतशः प्रणाम।

अथ विमान मार्गेण

एक समय था जब मानव-जाति अनन्त आकाश में उड़ान भरने वाले पक्षियों को देखकर उनके सौभाग्य के प्रति ईर्ष्या किया करती थी, पर आज वैसा करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। इसी प्रकार किसी भी नई योजना को अव्यवहार्य सिद्ध करने के लिए यह कहना भी गलत होगा कि वह 'कल्पना के आकाश में ली गई एक उड़ानभर' है। नये-नये शास्त्रों, विद्याओं और विज्ञानों का इतना कुछ आविष्कार हो गया है, नई-नई साधन-सामग्रियों के निर्माण में मानव-जाति ने इतनी कुछ प्रगति कर ली है कि अब बहुत-से पुराने मुहावरों और कहावतों को बदल डालना पड़ेगा, जीवन सम्बन्धी अनेक अनुभवों को निरर्थक कहकर छोड़ना पड़ेगा तथा जीवन सम्बन्धी अनेक दृष्टिकोणों में पर्याप्त सुधार करना आवश्यक हो जायगा। इस प्रकार के दार्शनिकस्वरूप के विचार मेरे मस्तिष्क में क्यों आ रहे थे, इसकी एक वजह थी। मैं स्वयं इस समय जमीन पर नहीं था, जमीन से हज़ारों फुट की ऊंचाई पर दौड़ लगाने वाले टाटा कम्पनी के एक हवाई जहाज़ में बैठा हुआ था।

अपने कालेज-जीवन में कालिदास द्वारा रघुवंश में वर्णित राम और सीता के पुष्पक विमान में बैठकर लंका से लेकर अयोध्या तक किये गये प्रवास का वृत्तांत पढ़ रखा था। इसी प्रकार विरही यक्ष ने मेघ को अपना दूत बनाकर आकाश के अनन्त विस्तीर्ण प्रदेश में से होकर गुजरते समय कहीं राह न भटक जाये इसलिए जो मार्ग के निश्चित संकेत बताये थे वे इस समय भी, जबकि मेरी रसिकता की उम्र समाप्त होने को आ रही है, स्मृति-पटल से पूर्णतया पुछ नहीं गये थे। यह ठीक है कि मैं इस समय राम के समान किसी जोड़े के रूप में यात्रा नहीं कर रहा था और न मेरे पास किसी विरहपीड़ित व्यक्ति के दूत का ही काम था। इस दीन दुर्गत देश के करोड़ों रुपयों से संबन्धित विषयों के बारे में निर्णय करने के लिए नियुक्त विधान परिषद् की समिति के काम पर मैं जा रहा था और एक प्रसंग आ पड़ा था इसलिए आकाशमाग से जाना मेरे लिए आवश्यक हो गया था।

कांटे और—

टाटा कम्पनी के टिकट घर में "पंच पंच उषः काले" जब मैं उपस्थित हुआ, उस वक्त वहां का ठाठबाट देख कर मेरी अवस्था एक नन्हे मुन्ने की-सी होगई हो तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं। दीवार पर भारतवर्ष का एक सचित्र नक्शा बना हुआ था। भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के चित्र दिखाये गये थे। बम्बई में भारत की टकसाल है, अतः वहां ऐसा चित्र बनाया था कि पैसे बन कर बाहर आ रहे हैं। दिल्ली के चित्र में एक सरकारी अफसर दिखलाया था जिसकी मेज पर फाइलों का बड़ा भारी ढेर है और एक ओर लाल फीतों का गुच्छा पड़ा हुआ है। सिंध हैदराबाद में हूरों का उपद्रव उनकी डाकेज़नी का दृश्य दिखलाकर मानों मुस्लिम लीग की नीति का ही मूर्त चित्र खींच

दिया था। इसी के साथ किसी भी स्वातंत्र्य वीर के अन्तःकरण को ठेस न पहुंचे इस बुद्धि से नेपाल की सरहद पर एक हाथ में कुकरी और दूसरे हाथ में ताजा-ताजा कटा हुआ आदमी का सिर लिये हुए शिखावान्, हिंदू धर्म का भाग्य विधाता, गुरखा चित्रित कर रखा था।

इस नक्शे की ओर मैं बहुत देर तक खड़ा देखता रहा। पर जब वहां के एक अधिकारी ने जरा रोबदार आवाज़ में मुझसे पूछा कि 'आप मुसाफिर हैं?' तब मेरी यह विचार-तन्द्रा टूट गई। मेरी ग्रामीण पोशाक को देखकर उसे कदाचित् ऐसा प्रतीत हुआ हो कि यह कोई बाहरी आदमी यों ही देखने के लिए इस जगह चला आया है। मैंने कहा, 'हां'; साथ ही मैंने अपने चमड़े के बेग की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया। इस बेग पर मेरे विचारशील पुत्र ने मेरे नाम और पद का ज्ञान करानेवाले अक्षर इस प्रकार लिख कर रखे थे कि धुंधली नजर वालों को भी उनका पता चल जाय। कहने की ज़रूरत नहीं कि उन अक्षरों को देखते ही उस अधिकारी के व्यवहार में 'हृदय-परिवर्तन' सा दृष्टिगोचर हुआ। रेलवे में जितना सामान मुफ्त में एक यात्री ले जा सकता है, उतना ही यहां पर भी ले जाया जा सकता होगा। इस विचार से अस्मदादिक (हम) ने अपने साथ सामान लिया हुआ था। जब उस सामान को तोला गया और उसके अधिक पैसे मांगे गये तब मालूम पड़ा कि एक बिस्तर की जितनी कीमत है उतना ही दिल्ली तक का उसका हवाई जहाज का किराया है। और इसके बाद जब उस अधिकारी ने मुझे भी तुलायंत्र पर खड़ा होने के लिए कहा, तब यह व्यक्ति अपने वजन के अनुसार तो कहीं किराया वसूल नहीं करेगा ऐसी भीति उत्पन्न हुई।

राजनीतिक वजन बहुत शीघ्रता से बढ़ता और घटता है; पर शारीरिक वज़न शीघ्रता से घटता नहीं, यह तो स्पष्ट ही है। जेल में काली टोपी

वाले कैदी इस प्रयत्न में रहते हैं कि उनका भार कम हो जाय। इसके लिए वे रोज दौड़ लगाते हैं, अथवा अन्य अनेक प्रकार की दवाइयां लेते हैं। इसके लिए कुछ समय की भी अपेक्षा रहती है। पर यहां तो एक निमेषार्ध में ही वज़न किया जाने वाला था। सामने कांटा (तुला-कंटक), शरीर पर कांटा (भीति-निर्मित रोमांच कंटक) और अधिक किराया मांग बैठे तो बटुए पर भी कांटा (संकट) ऐसा कुछ टेढ़ा प्रसंग उपस्थित था। तथापि अपने कुलदेवता का स्मरण करके मैं उस तुलायंत्र पर आरूढ़ हो ही गया। अन्त में वज़न किये जा चुकने के बाद जब उस अधिकारी ने कुछ भी नहीं कहा, तब बहुत आनन्द हुआ। इस गड़बड़ी में हाथ में पकड़ने के डाक्युमेंट बेग का वज़न करना रह ही गया। पूना निवासियों की सहज चतुरता के साथ मैं उस बेग को हाथ में लेकर जिस गति से सभामंडपों में प्रवेश किया करता था, उसी द्रुतगति से उस कम्पनी की बस में जा बैठा। अपनी इस चतुराई पर मैं मन-ही-मन बड़ा खुश हो रहा था। पर इतने में नारियल के पेड़ जैसा ऊंचा पूरा, गज भर चौड़ा एक अंग्रेज भी अपने हाथ में वैसा ही बेग लेकर तुलायंत्र पर खड़ा हुआ। कम्पनी वालों ने उससे कुछ भी अधिक पैसे नहीं लिये। तब कहीं मेरे ध्यान में आया कि जिस बात को मैं अपना बड़ा भारी पराक्रम समझ रहा था, वह और कुछ नहीं निपट लड़कपन था।

गुलाब

तड़के-ही-तड़के बम्बई की महालक्ष्मी को बाईं ओर छोड़कर हमारी गाड़ी शांताक्रूज के हवाई जहाज के अड्डे पर पहुँची। वहां चाय का इन्तजाम था। बिस्कुटों का भी ढेर-सा पड़ा हुआ था। पर यह मुफ्त का था या दामों का था, इस बात का ठीक से अन्दाज़ा न लग सका। अतः अस्मदादिक (हम) ने सिर्फ चाय से ही काम चला लिया। परिचारिका

बिस्कुटों को आगे करते हुए वारबार हमसे उन्हें लेने के लिए आग्रह करती थी। पर मैं हर बार यह दिखाने का प्रयत्न करता कि मैं 'कम खाओ' के मत को मानने वालों में से एक हूँ।

इतने में भोंपू की एक आवाज़ हमने सुनी। इसका संकेत यह था कि ठीक साढ़े छः बजे मुसाफिर लोग हवाई जहाज के पास जांय। हम सब स्त्री-पुरुष मिलाकर कोई पन्द्रह के करीब होंगे। हम लोग विमान के साथ लगाई हुई सीढ़ी पर से होकर विमान में जाकर बैठ गये। अनेक बार आकाश में उड़ने वाले विमानों को मैंने देखा था; पर उसे समीप से देखने का जीवन में यह पहला ही अवसर था। एक विशालकाय सामुद्रिक मत्स्य की-सी उसकी आकृति थी। जिस प्रकार बसों में मुसाफिरों के बैठने के लिए इन्तजाम रहता है ठीक वैसा ही कुर्सियों आदि का इन्तजाम यहां भी था। जुड़वां कुर्सियों की सात पंक्तियां थीं और इकहरी कुर्सियों की सात; इस प्रकार कुल जमा इक्कीस मुसाफिरों के बैठने के लिए उसमें इन्तजाम किया हुआ था। कुर्सी पर बैठने के बाद यंत्र के चालू होने की आवाज़ आने लगी और जमीन पर ही लगभग आधा मील दौड़ लगाने के पश्चात् वह जमीन से अलग हो गया।

विमान में यात्रियों की सुविधा की देखरेख के लिए दो परिचारिकाएं नियुक्त थीं जो यात्रियों को कान में डालने के लिए रूई दे रही थीं। उनकी उस नीली पोशाक को, पाउडर से शुभ्र हुए बदन को और लिपस्टिक से रक्तवत् रंजित ओष्ठयुग्म को देखकर किसी भी 'वेदाभ्यास जड़' मनुष्य का हृदय क्षण भर के लिए काव्यमय' हो उठता। चूंकि यह यात्रा आकाशमार्ग से हो रही थी अतः स्वभावतः मुझे मेघदूत की "ईषत श्यामा, शेष विस्तार पाण्डु" वाली पंक्ति स्मरण हो आई। अन्तर इतना ही था कि उसमें 'ईषत श्यामा' लिखा हुआ था और यहां मामला

था 'ईप्सतरक्ता' का ! हवाई जहाज की घरघर इतनी ज़्यादा थी कि आपस में एक-दूसरे से बातचीत करने में भी आज़ाद मैदान में भाषण देने से कम शक्ति नहीं लगती थी। ये परिचारिकाएं या परियां, जब हवाई जहाज जमीन से ऊपर की ओर उड़ने लगा तब हरएक यात्री से पट्टा बांधने के लिए कहने लगीं। दूर से कहें तो किसी को सुनाई न दे; अतः हरेक के कान के पास मुंह लेजाकर उन्हें कहना पड़ता था। यात्रियों में कुछ 'रसिक' यात्री भी थे, वे ऐसा दिखावा करते थे कि उन्हें उन परिचारिकाओं की बात कुछ भी सुनाई नहीं दी। जहाँ एंजिन रहता है उस भाग के द्वारदेश पर बिजली के प्रकाश में अंग्रेजी में पट्टा बांधने का आदेश लगा हुआ मैंने देखा और तत्काल ही कुर्सी से बंधा हुआ वह पट्टा मैंने बांध लिया। जो लोग स्वयं यह नहीं कर सकते थे उन्हें पट्टा बांधने का काम भी परिचारिकाओं को करना पड़ता था। फलतः उन यात्रियों को न केवल दृष्टि-सुख का अपितु ईषत् स्पर्श-सुख का भी लाभ हो जाता था। मैं चूंकि इतना 'आधुनिक' तबियत का नहीं था, और समाजवादी नीति में उतना परिपक्व नहीं था, इसलिए स्वातंत्र्य का उपार्जन जिस प्रकार व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए उसी प्रकार यह 'बंधन' का कार्य भी मैंने स्वयमेव कर लिया। ऊखली से जैसे श्रीकृष्ण को बांध दिया गया था वैसा ही कुछ दृश्य अपनी-अपनी कुर्सियों से बंधे हुए इन यात्रियों को देखने पर आंखों के सामने उपस्थित होता था। विमान जब खूब ऊंचाई पर चला गया तब हमने अपना यह बंधन खोल दिया। मानों परिपूर्ण विलास के उपभोगार्थ इन बंधनकारी मेखलाओं को हमने निकाल फेंका हो। अब हमारी वायुयान की वास्तविक यात्रा आरम्भ हुई।

सोने की साबरमती

पास के कांच के रोशनदानों में से नीचे झांक कर देखने पर नीचे के खेत ऐसे नज़र आते थे जैसे कि नाना प्रकार के रंगों वाले चिथड़ों को सीकर बनाई गई गुदड़ी नज़र आती है। खेतों को देखकर ऐसा भी मालूम पड़ता था मानों बड़े-बड़े मैदानों में छोटी-छोटी बांबियाँ फैली पड़ी हों ! हम समुद्र के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। एक नदी के बाद दूसरी नदी समुद्र में छलाँग मारती नज़र आती थी। कालिदास के द्वारा वर्णित "पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः" का यथार्थ अनुभव इस क्षण मुझे हो रहा था। किसी एक बड़ी नदी से मिलनेवाले छोटे-छोटे जलप्रवाहों को हम देखते थे तो ऐसा प्रतीत होने लगता था मानों किसी बड़ी-बड़ी टहनियों वाले पेड़ की छांह जमीन पर पड़ी हुई हो ! रेलवे लाइन रोमराजी की भाँति भासित होती थी। किसी अस्पष्ट स्वरूप के हिलने डुलने को देख कर हम कल्पना कर सकते थे कि खेतों में हल जोता जा रहा है।

प्रति घंटे विमानवाहक कार्ड पर यह सूचित किया जाता था कि हम अब किस स्थान पर हैं, कितनी ऊंचाई पर हैं तथा किस वेग से उड़ रहे हैं। बाहर के तापमान का पता भी वह देता जाता था। दस हज़ार फुट की ऊंचाई पर प्रति घंटा १७५ मील की रफ्तार से हम जा रहे हैं, अब हमारा विमान सूरत पर है, बाहर का तापमान १५ है और ठीक ८ बजे हम अहमदाबाद पहुंच जायेंगे यह भी उसमें बताया हुआ था। बाहर कल्पनातीत नयन-मनोरम दृश्य आँखों के आगे आते थे और इधर अन्दर परिचारिकाएं मुस्कराती हुई 'आपको चाकलेट चाहिए ?' 'विमान-यात्रा के कोई विकार तो नहीं हुए न आपको ?' 'कोलेन वाटर लाऊं आपके लिए ?' इत्यादि प्रश्न पूछती थीं।

बाहर के सफेद बादलों को कभी एक ओर को धकेल कर, कभी उन्हें

नीचे करके तो कभी स्वयं उनके नीचे से निकलकर विमानवाहक हमें यह 'धर्मशिक्षा' पढ़ा रहा था कि 'साधनानामनेकता' (स्व० लो० तिलक का वाक्य) ही अपने ध्येय को हस्तगत करने का श्रेष्ठ उपाय है। अन्दर और बाहर के शुभ्र मेघों की भांति ये दोनों परिचारिकाएं विद्युल्लता की तरह इधर से उधर आती-जाती थीं। और इस बीच विद्युल्लता की कौंध के पश्चात् जैसे झंझावृष्टि आती है उसी प्रकार बाहर काले बादल नज़र आने लगे। बरसात की झड़ियाँ शुरू हो गईं और प्रदर्शनियों के हिंडोलों की तरह हमारा विमान क्षण में ऊपर तो क्षण में नीचे होने लगा। बोर्ड पर फिर पट्टे बाँध लेने का आदेश दिखाई देने लगा। पाँच मिनटों में ही मुसाफिरों की हालत बुरी हो गई, कुछ को उलटियाँ भी हुईं। परिचारिकाएं मुस्तैदी के साथ इधर-उधर जा रही थीं। स्मेलिंग साल्ट तथा कोलन वाटर की पट्टियाँ बाँध रही थीं। मैं सोचता था, शायद मुझे भी ये विकार होंगे और उन परिचारिकाओं के धात्रीकार्य का कोमल अनुभव प्राप्त करने का अवसर मुझे भी मिलेगा। पर मुझे कुछ भी नहीं हुआ। मैं तो 'स्थाणुरयं पुरुषः' की भाँति सर्वथा निर्विकार अवस्था में था। केवल 'रसिकता' के लिए कुछ करें तो उसकी भी अब उम्र नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त यह भी डर था कि अगर ऐसा-वैसा कुछ कर बैठूं तो कोई गेस्टापो इस गल्प को कुछ और नोन-मिर्च लगाकर पुण्यपत्तन तक पहुँचाये बगैर नहीं रहेगा।

दस मिनटों तक इसी वातावरण में हमारे विमान ने यात्रा जारी रखी और ८। बजे के लगभग मिलों की ऊंची-ऊंची चिमनियों से विभूषित अहमदाबाद की नगरी दिखाई देने लगी। साबरमती नदी शहर के बीच में से अपने पूरे यौवन में उमड़ी बह रही थी; और बिजली के कारखाने के पास वाली साबरमती जेल का, जहां कुछ काल के लिए मैं भी रह चुका

हूं, परकोटा दिखाई दे रहा था। युद्धकाल में आप लोग यदि अपने मालिकों से किसी किस्म का झगड़ा या असहयोग न करें तो यह साबरमती 'सुवर्णमती' हो जायगी ऐसी वल्लभभाई पटेल ने घोषणा की थी। वस्तुस्थिति भी वैसी ही है। करोड़ों ग्राहकों को नग्न तथा अर्धनग्न रखकर मिल मालिकों ने अपनी चांदी बनाई, यह तो सर्वविदित वस्तु है। स्मृद्धि का उन्माद ही मानों इस उमड़ कर बहने वाली साबरमती के पानी की शक्ल में दिखाई दे रहा था। "दूरस्थ भूधरा रम्याः" यह भले ही सत्य हो तथापि अहमदाबाद की मैली-कुचली बस्ती दस हज़ार फुट ऊंचाई पर से भी वैसी ही दिखाई देती थी। जिस जगह सत्याग्रहाश्रम हो वहीं काले बाज़ार का विद्यापीठ भी हो, जहाँ सर्वसंगपरित्यागी महात्मा रहता हो वहीं गरीबों के चीथड़ों तक को खसोट लेने वाले महाभाग निवास करते हों, यह बात इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है कि यह विश्व द्वैत से भरा हुआ है।

भूमिगत हुये !

अहमदाबाद शहर पर से होकर हवाई अड्डे पर उतरते समय इस प्रकार के विचार आये बगैर न रहे, यह सच है। हवाई जहाज जब नीचे उतरने लगा उस समय फिर 'पट्टे' बांधने का आदेश मिला और कुछ ही मिनटों में हम "भूमिगत" हो गये। अहमदाबाद के हवाई अड्डे पर हमें जो न्याहार (नाश्ता) दिया गया, उसमें क्या था यह बताकर मैं सनातनी पाठकों के हृदय को ठेस पहुंचाना नहीं चाहता पर इतना मैं अवश्य कहूंगा कि इन यात्री हिन्दुओं में से बहुतेरे मुंजे प्रणीत सिद्ध होते हैं। उपहारगृह के बटलर ने मेरी विदित वेषभूषा को देखकर भी जब लज्जापूर्वक मुझे कुर्निसात किया तो उसे मैंने भी बख्शीश दी। कुछ ही देर में हम फिर आकाशमार्गी हो गये।

बम्बई से अहमदाबाद तक व्यवस्था यह थी कि एक ओर जमीन, दूसरी ओर समुद्र और हम आकाश में। अब एक दृष्टि से चारों पार्श्वों में जमीन तो एक दृष्टि से आठों दिशाओं में अनन्त आकाश—यह अवस्था हो गई! अवली के जैसे बड़े-बड़े पर्वत, दिवाली के दिनों में किले के नजदीक छोटे-छोटे बच्चे जिस प्रकार पहाड़ियों का रन करते हैं वैसे दिखाई देते थे। राजपूताने के गांवों का ढब कुछ भिन्न प्रकार का था। बहुत से गांवों में बड़े-बड़े तालाब नजर आते थे। दायें हाथ की ओर से उदयपुर पीछे छोड़कर हम आगे बढ़ रहे थे। उदयपुर को मैंने बहुत बार देखा है इसलिए उसे देखने पर अनेक बातें हठात् ध्यान में आ गईं। कुछ ही क्षणों में हम जयपुर पहुंच गये। मतलब जयपुर नगर के ऊपर के अंतरिक्ष में आ गये। रेखाबद्ध एवं सुन्दर गलीचा जिस प्रकार प्रतीत होता है। वैसा यह जयपुर शहर अन्तरिक्ष से देखने पर प्रतीत होता है। हमारा विमान पलकों ही पलकों में प्रति घण्टे १७५ मील के वेग से दिल्ली की ओर झपटता चला जा रहा था।

दिल्ली की परिचित वस्तुएँ दिखाई देने लगीं। वह पुराना किला, वह कुतुबमीनार, व सेक्रेटेरियट की इमारत, वह सभागृह धीमे-धीमे दिखाई देने लगा। प्राचीन वैभव तथा वीरकृतियों वाले शहरों को हम पीछे छोड़ आये थे। आधुनिक जग को हम समीप कर रहे थे। राजपूतों के वैयक्तिक शौर्य की कथाएँ आज इतिहास की वस्तुयें रह गई हैं, उन्हीं शूर राजाओं के वंशज घोड़ों का उपयोग युद्धकालिक आक्रमण-कार्य के लिए न करके रेस (घुड़दौड़) के लिए करने लग गये हैं। जिन लोगों ने कभी प्रतिज्ञा की थी कि दिल्ली को जीते बगैर हम सोने के थालों में भोजन नहीं करेंगे, कोमल शय्या पर नहीं सोयेंगे, वही लोग आज दिल्ली की प्रचलित राज-सत्ता के गुलाम बने हुये हैं। उनके राजमहल भी वाइसराय के राजमहल के

आस-पास बस गये। तलवार की खनखनाहट की जगह प्रस्तावों पर संशोधनों और उपसंशोधनों की आवाज ही आज यहां सुनाई देती है। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की आकांक्षाओं के स्थान पर आज किस जाति को कितनी नौकरियां मिलती हैं, इसी का ऊहापोह रातदिन चलता रहता है। अपने सिरों को अपने हाथ की तलवार ही से काटकर मातृभूमि के चरणों पर भेंट चढ़ाने की अहमहमिका के स्थान पर आज लोगों की अहमहमिका इस बात में है कि कौन गुलामी में बाजी मार ले जाता है। यह सब कुछ करते हुए भी इस बात का एक अहंकार उसी प्रकार बना हुआ है कि, हम जो कुछ करते हैं सब बिलकुल ठीक ही करते हैं। मराठों के पूर्वज दिल्ली को जीतने के लिये आये थे, सुलहनामे करने के लिए आये थे 'शापादपि शरादपि' के न्याय से दिल्ली के सिंहासन पर बैठने या उसके टुकड़े-टुकड़े करने के लिए आये थे, पर आज के उन्हीं के वंशज यहाँ किस लिए आये थे ?—यह प्रार्थना करने के लिए कि तीन पैसे के कार्ड की कीमत कम करके दो पैसे कर दी जाय।

जब मैं दस हजार फुट की ऊंचाई पर से नीचे उतर रहा था उस समय मेरे मस्तिष्क में इस प्रकार के अनेक विचार घूम रहे थे। विमान जमीन पर आया, मन के अन्तर्गत विचारों ने वस्तुस्थिति का ज्ञान करा दिया और मैं समझता हूँ, डेढ़ सौ रुपये खर्च करके किये गये इस प्रवास का इतना फायदा भी क्या कम है ?